chapter-1

:: प्रथम अध्याय ::

:: विषय - प्रवेश ::

में उसे " उपन्यास " कहा गया ।

हिन्दी के प्रारंभिक औपन्यासिक विकास में अधिकांशतः अनूदित उपन्यासों का बोलबाला रहा है । एक प्रकार से इन अनूदित उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यासों का दिशा-निर्देश किया है । उस समय हिन्दी में मौलिक उपन्यास बहुत कम लिखे जाते थे । अधिकांशतः अंग्रेजी , बंगला , मराठी , पंजाबी , गुजराती प्रभृति भाषाओं से हिन्दी में उपन्यासों का अनुवाद होता था । परन्तु तब तक हिन्दी में ऐसी कोई मौलिक औपन्यासिक उपलब्धि नहीं थी जिसे अन्य भाषा के लोग अनूदित करने के लिए प्रेरित होते । उस समय का हिन्दी कथा-साहित्य इस मामले में अत्यन्त दरिद्र अवस्था में था । इस स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन प्रेमचन्द के आविर्भाव से हुआ । प्रेमचन्द मूलतः उर्दू के लेखक थे । सन् 1903 में उर्दू अखबार " आवाज़ेखल्क " में उनका प्रथम उपन्यास "असरारे मआबिद " नवाबराय बनारसी के नाम से प्रसिद्ध हुआ था ।[1] उसके पश्चात् वे उर्दू के "ज़माना" जैसे पत्रों में नियमित लेख तथा मजमून लिखने लगे । सन् 1908 में उनका "सोज़ेवतन" उर्दू कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ , जिसके कारण वे अंग्रेजी-सरकार के कोपभाजन हुए । उस समय प्रेमचन्दजी महोबा में नौकरी करते थे । जिला-कलक्टर ने उनको इस कहानी-संग्रह को लेकर खूब डांटा और "सोज़ेवतन" की तमाम कापियों को जब्त कर लिया । इतना ही नहीं आगे से ताकीद की कि वे कुछ भी प्रकाशित करने से पूर्व अधिकारियों से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लें । इस सन्दर्भ में मनोहर बंदोपाध्याय ने लिखा है — " The collector suddenly burst out that the stories were full of sedition. ' Thank your stars that you live under British Empire. Your hands would have been chopped if it were moghulyuli "[2]

फलतः प्रेमचन्द ने उर्दू अदब तथा नवाबराय से अलविदा लेकर हिन्दी में

प्रेमचन्द नाम से लिखने का श्रीगणेश किया । हिन्दी में प्रेमचन्द के आने से एक हलचल-सी मच गई । हिन्दी में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी , लाला श्रीनिवास दास , पं. किशोरीलाल गोस्वामी , मेहता लज्जाराम शर्मा , पं. बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखकों ने सामाजिक उपन्यासों का सूत्रपात तो कर दिया था ; परन्तु बाबू गोपालराम गहमरी तथा बाबू देवकीनंदन खत्री ने क्रमशः जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास को पथभ्रष्ट-सा कर दिया था । उसे पुनः पटरी पर लाने का कार्य प्रेमचन्द ने किया । डा. रामविलास शर्मा के शब्दों में इसे प्रेमचन्द की एक महान उपलब्धि समझना चाहिए कि उन्होंने हजारों-लाखों "तिलस्मे-होशरुबा " और "चन्द्रकान्ता " के पाठकों को "सेवासदन " का पाठक बनाया ।[3]

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास जो वायवी कल्पनाओं , सस्ती लोकप्रियता तथा रोमानी भावुकता में भटक गया था , उसे पुनः स्थापित करने का कार्य प्रेमचन्दजी ने किया । उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को उसके वास्तविक गौरव से परिचित करवाया । प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यास को हिन्दीतर भाषी विशेष महत्त्व नहीं देते थे । यह प्रेमचन्द के पुरुषार्थ का ही परिणाम है कि अन्य भाषा-भाषी लोग हिन्दी उपन्यास पर सोचने-विचारने अब पर विवश हुए और हिन्दी उपन्यासों का अनुवाद भी अन्य भाषाओं में होने लगा । पहले दूसरी भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद तो हिन्दी में होते थे , किन्तु हिन्दी के उपन्यासों के अनुवाद अन्य भाषाओं में नहीं होते थे , क्योंकि वे उनको स्तरीय नहीं समझते थे । साहित्यिक आदान-प्रदान का यह जो रास्ता एकतरफा था उसे दोतरफा करने का कार्य प्रेमचन्द ने किया ।

प्रेमचन्द की प्रतिभा एक युग-निर्माता साहित्यकार की प्रतिभा है। प्रेमचन्द ने जब हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया तब हिन्दी साहित्य की अवस्था बहुत ही दयनीय थी। इसका संकेत प्रेमचन्द के ही एक उपन्यास "सेवासदन" में एक पात्र के कथोपकथन से मिलता है। इस उपन्यास के कुंवर अनिरुद्धसिंह कहते हैं — " संगीत से हृदय में पवित्र भाव पैदा होते हैं, जब से गाने का प्रचार कम हुआ हम लोग भावशून्य हो गये और उसका सबसे बुरा असर हमारे साहित्य पर पड़ा है। कितने सोच की बात है कि जिस देश में रामायण जैसे अमूल्य ग्रंथ की रचना हुई, सूरसागर जैसा आनंदमय काव्य रचा गया, उसी देश में साधारण उपन्यासों के लिए हमको अनुवाद का आसरा लेना पड़ता है। बंगाल और महाराष्ट्र में अभी गाने का कुछ प्रचार है, इसलिए वहाँ भावों का ऐसा शैथिल्य नहीं है, वहाँ रचना और कल्पना-शक्ति का ऐसा अभाव नहीं है। मैंने तो हिन्दी साहित्य को पढ़ना ही छोड़ दिया है। अनुवादों को निकाल डालिये तो नवीन हिन्दी साहित्य में हरिश्चन्द्र के दो-चार नाटकों और चन्द्रकान्ता संतति के सिवा और कुछ रहता ही नहीं। संसार की कोई साहित्य इतना दरिद्र न होगा। उस पर तुर्रा यह कि जिन महानुभावों ने दो-एक अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद मराठी और बंगला के अनुवादों की सहायता से कर दिये वे अपने को धुरंधर साहित्यकार समझने लगते हैं। एक महाशय ने कालिदास के कई नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद किये हैं, लेकिन वे अपने को हिन्दी का कालिदास समझते हैं। एक महाशय ने मिल के दो ग्रंथों का अनुवाद किया है और वह भी स्वतंत्र नहीं, बल्कि गुजराती-मराठी आदि अनुवादों के सहारे, पर वे अपने मन में ऐसे संतुष्ट हैं मानो उन्होंने हिन्दी साहित्य का उद्धार कर दिया हो। मेरा तो यह निश्चय होता जाता है कि अनुवादों से हिन्दी का अपकार हो रहा है। मौलिकता को पनपने

का अवसर नहीं मिलने पाता । "[4]

उक्त कथन से यह पुष्टि होती है कि प्रेमचन्द तत्कालीन हिन्दी साहित्य की दयनीय अवस्था से संतुष्ट नहीं थे । एक जागरूक साहित्यकार , लेखक और साहित्य के अच्छे पाठक होने के नाते उन्होंने भारतीय साहित्य एवं विश्व साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को पढ़ा था । अतः वे हिन्दी साहित्य को ऊपर उठाना चाहते ही थे । फलतः स्वयं उन्होंने तो ऐसी औपन्यासिक कथा-कृतियां दी ही , जो उनके समकालीन लेखकों का मार्गदर्शन कर सकें , प्रत्युत अन्य कई लेखकों को भी उन्होंने लिखने के लिए प्रेरित किया । यहां गुजराती के साहित्यकार नर्मद की एक बात मस्तिष्क में कौंध रही है । कभी गुजराती के विषय में कुछ लोगों के मन में यह मान्यता घर कर गई थी – " अबे-तबे का सोलह आना , अटे-कटे का चार ; आठ आना हक्कड़-टिक्कड़ , हूं-शूं पैसा चार । " — अर्थात् गुजराती की कीमत केवल चार पैसा है , तब गुजराती साहित्य के इस कलंक को दूर करने हेतु नर्मद कटिबद्ध हुए थे । ठीक उसी प्रकार यहां प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य के विकास हेतु कटिबद्ध होते हैं । हिन्दी के दूसरे लेखकों को प्रेरित करने के लिए वे "हंस" और "जागरण" जैसी पत्रिकाएं आर्थिक घाटा उठाते हुए भी निकालते हैं और इस प्रकार लेखकों की एक समूची पीढ़ी तैयार करते हैं । स्व. अमृतराय ने[5] "कलम का सिपाही" में लिखा है — " आज हिन्दी में जैनेन्द्र , अज्ञेय , राधाकृष्ण , जनार्दन झा "द्विज" , गंगाप्रसाद मिश्र , वीरेश्वर मिश्र , उपेन्द्रनाथ अश्क , वीरेन्द्रकुमार जैन , पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथों से संवारा है , जिनकी नयी प्रतिभा को इन्होंने पहचाना, उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया । उर्दू के प्रसिद्ध कवि

रघुपति सहाय (फिराक गोरखपुरी) को कवि के रूप में स्थापित करने में प्रेमचन्दजी का श्रेय कम नहीं था । "[6]

इस प्रकार प्रेमचन्दजी अपने आप में एक युग – एक संस्था थे । ऐसे ही युगनिर्माता साहित्यकार का साहित्य कालजयी होता है । वस्तुतः प्रेमचन्दजी एक लोकधर्मी साहित्यकार हैं । उनके साहित्य की जड़ें लोक-जीवन में गहरी जमीं हुई प्रतीत होती हैं । इसी कारण से ऐसे साहित्यकार कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते । प्रेमचन्दजी ने अपने समय में समाज के जिन प्राण-प्रश्नों को उठाया उनके स्वरूप में थोड़ा-बहुत परिवर्तन जरूर आया होगा , किन्तु ऐसा महसूस होता है कि ये प्रश्न अब भी बरकरार हैं । बल्कि और भी जटिल हो गये हैं । हम सामान्यतौर पर यह कहकर छूट जाते हैं कि "गबन" की जालपा में अलंकारों के प्रति गहरा आकर्षण मिलता है । हम यह भी कह सकते हैं कि स्त्रियों में सोने-चांदी के गहनों के लिए कमजोरी पायी जाती है । परन्तु इस प्रवृत्ति के कारणों की छान-बीन होनी चाहिए । इसका सामाजिक सांस्कृतिक , ऐतिहासिक धरातल पर विचार होना चाहिए कि आखिर स्त्रियां अलंकारों के पीछे जान क्यों देती हैं । इस प्रकार से दहेज समस्या , अनमेल विवाह की समस्या , स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों की समस्या जैसे अनेक मुद्दे हैं , जो आज भी बड़े ~~गंभर~~ गंभीर और चुनौती बने हुए हैं । कहने को तो स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है ऐसा कहा जाता है , किन्तु अभी हाल ही में प्रकाशित मृणाल पांडे की पुस्तक " परिधि पर स्त्री " में भारतीय स्त्री से सम्बद्ध कई प्रश्न उठाये गये हैं । यथा — " वे (नारी) तो पूरी दुनिया में ही ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से पुरुषों की तुलना में आर्थिक,पारिवारिक रूप से काफी कमजोर हैसियत रखती है ।[7] भारतीय समाज में तो उनकी स्थिति और भी दयनीय है ।

कभी भी कोई धर्मगुरु शंकराचार्य आगबबूला होकर कह सकता है कि उनकी उपस्थिति में एक स्त्री वैदिक ऋचाओं का पाठ करती है तो वे उठकर चले जायेंगे । महिलाओं के इस अपमान पर प्रगतिशील महिला समिति संस्था द्वारा धरना देने से क्या हुआ ? न मुसलमान महिलाएं मस्जिद में कुरान पढ़ सकती हैं और न आर्य ललनाएं वेद-पुराण । भाड़ में गये संवैधानिक मौलिक अधिकार । समता , समानता और धर्म की आजादी हम तो ऐसी ही शिक्षा देकर बनाते रहेंगे नाबालिग बच्चों को साधु-साध्वियां और वृद्ध से वृद्ध साध्वी को भी युवा साधुओं की वंदना करनी ही पड़ेगी । धर्म वही जो हम पुरुषों ने बनाया । स्त्रियां पूजा करें चुपचाप । उनके लिए मोक्ष का दरवाजा बन्द । " 8

सन् 1995 की बहुचर्चित पुस्तक " औरत होने की सज़ा " में श्री. अरविन्द जैन स्त्रियों की स्थिति के विषय में बेलाग और बेलौस शैली में लिखते हैं — " तुम औरत हो , याने मेरी पत्नी , वेश्या या दासी , जो कुछ भी हो , मेरी हो और मेरे सुख , आनंद भोग और ऐश्वर्य के लिए सदा समर्पित रहना ही तुम्हारा धर्म और कर्तव्य है । मेरे हुक्म के अनुसार चलती रहोगी, सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर वफादारी के साथ मेरी सेवा करोगी तो सीता सावित्री और महारानी कहलाओगी ; कुछ सुविधाएं , कपड़े-गहने , धन-ऐश्वर्य , मान-सम्मान और प्रतिष्ठा पाओगी । मगर मुझसे अलग मेरे विरुद्ध आंख उठाने की कोशिश भी करोगी तो कीड़े-मकौड़े की तरह कुचल दी जाओगी और कोई तुम्हारी मदद के लिए आगे नहीं आयेगा । समाज , धर्म , कानून , नेता और राजा सब मेरे हैं । बल्कि ये ही वे हथियार हैं जिनके द्वारा इस दुनिया में ही नहीं , दूसरी दुनिया में भी , तुम्हें नहीं छोडूंगा ।" 9

सितम्बर 1996 में स्त्रियों की स्थिति को लेकर श्रीमती गाँधी महिला कालेज में , भावनगर में जो संगोष्ठी हुई थी उसमें कालेज की आचार्या श्रीमती धंधुकिया ने स्त्रियों की निम्न प्रकार की स्थिति को लेकर कहा था — " The society behaved in differently to the Femle right From its existence in womb and devices of Foeticide were widely used to avoid or Forceful Killing of Female has become daily affairs in our contry while Forty lacs of women in U.S F suffer From exploitation and harassments by their husbands. out of every six women one meets un natural deaths; there is one rape in less than in hour. " 10

गरज यह कि स्त्रियों के शोषण और अत्याचारों में कोई विशेष अंतर नहीं आया है । यही बात दलित समस्या तथा हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी लागू होती है । बल्कि प्रेमचन्द के समय की तुलना में साम्प्रत काल में ये समस्याएं और भी गहन और जटिल हुई हैं । अतएव प्रेमचन्द के उपन्यासों का अध्ययन , उनका पुनर्मूल्यांकन आज के सन्दर्भ में भी किया जाना चाहिए । प्रेमचन्द के एक समालोचक डा. हंसराज रहबर ने " प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " की भूमिका में लिखा है — " प्रेमचन्द पर पहले भी कई पुस्तकें मौजूद हैं , अभी और भी लिखी जायेंगी । जब समय बदलता है तो अपने से पहले के लेखकों को देखने और परखने का ढंग भी बदलता है । प्रेमचन्द महान लेखक थे और महान लेखकों पर हमेशा कुछ-न-कुछ लिखा जाता है । प्रेमचन्द पर अब भी बहुत कुछ लिखा जाने की

आवश्यकता है ।" 11

हमारे इस प्रबंध में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों के पुनर्मूल्यांकन का एक नम्र प्रयास हुआ है । प्रस्तुत प्रबंध में प्रेमचन्द के उपन्यासों पर कुछ नये आयामों को केन्द्र में रखते हुए तथा इधर उत्पन्न हुई कुछ नवीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने का उपक्रम रहा है ।

उपन्यास की परिभाषा :

उपन्यास की परिगणना कथा-साहित्य के अन्तर्गत होती है । हमारे यहाँ हितोपदेश, पंचतंत्र, कथासरित्सागर, जातक-कथाएं (बौद्ध एवं जैन), बत्तीस पुतलियों की वार्ता, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता आदि अनेक कथा-साहित्य की कृतियाँ उपलब्ध हैं ; परन्तु हम जिसे "उपन्यास" कहते हैं, वह सर्वथा एक नयी विधा है । वस्तुतः उसका उद्भव योरप में हुआ और अंग्रेजी साहित्य के द्वारा हमने उसे प्राप्त किया । अंग्रेजी में उपन्यास को "नौवेल" कहते हैं । "नोवेल" का अर्थ ही "नया" होता है, अतः यह सहजतया कहा जा सकता है कि वहाँ भी यह विधा अपेक्षाकृत नयी विधा थी । रेनेसाँ के उपरांत जो सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक उथल-पुथल हुई और उसके परिणामस्वरूप वहाँ के सामाजिक ढाँचे में जो आमूलचूल परिवर्तन आया, समाज अधिक संकुल और जटिल हो गया उसने सामाजिक व्यवस्था के सारे समीकरण ही बदल दिये । नगरीकरण (Urbanisation) कई की शीघ्रगामी प्रक्रिया ने मानव-जीवन को अच्छे-बुरे दोनों अर्थों में खूब प्रभावित किया । अतः उसे रूपायित करने के लिए किसी नये रूप की आवश्यकता आ पड़ी जिसकी आपूर्ति "नौवेल" के द्वारा हुई ।

सन् 1801 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। उसके साथ ही हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ हुआ। मेकोले की [illegible]- शिक्षा-नीति के कारण हमारे देश के कुछ नवयुवक अंग्रेजी साहित्य के परिचय में आये, जिनमें से कुछ अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं के लेखक और जानकार भी थे। अतः उन लोगों ने अंग्रेजी के "नोवेल" से प्रभावित होकर अपनी-अपनी भाषाओं में उस प्रकार के "जेनर" को लाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारी सभी भारतीय भाषाओं में "उपन्यास" विधा का प्रारंभ हुआ। गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं में जहां "नोवेल" से मिलते-जुलते शब्दों को लिया गया; वहां हिन्दी तथा बंगला में उसे "उपन्यास" कहा गया।

वस्तुतः यह शब्द [उपन्यास] हमारे यहाँ नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र में प्रतिमुख संधि के एक उपभेद के रूप में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ पर उसका अर्थघटन दो प्रकार से किया गया है — "उपन्यासः प्रसादनम्" तथा "उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः"[12] अर्थात् क्रमशः उपन्यास हमारा मनोरंजन करता है और उसमें युक्तिपूर्वक किसी बात को रखा जाता है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजी से आनेवाली इस नयी विधा में इन दोनों अभिलक्षणों की उपस्थिति को लक्षित करके किसीने यह नाम दिया होगा। उपन्यास में कथा होती है, इससे पाठकों का मनोरंजन होता है और उसमें बात को युक्तिपूर्वक कहने का एक यत्न भी होता है। जैसे हिन्दी के प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" में भाग्यवती की कथा तो बिलकुल मिलती ही है, परन्तु उसमें लेखक नारी-शिक्षा का एक संदेश भी देता है। "उपन्यास" शब्द उप + न्यास के योग से बना है। यहां उप=समीप और न्यास= रखना अर्थात् उपन्यास का अर्थ हुआ — पास में रखी हुई वस्तु।

उपन्यास हमारे जीवन को हमारे नजदीक रख देता है । हमें जीवन से रुबरु कर देता है । इस प्रकार उपन्यास शब्द से जो अर्थघटन हुआ वह यह कि उपन्यास हमारे जीवन को हमारे सम्मुख रख देता है ।[13] दूसरे शब्दों में कहें तो उपन्यास में जीवन की वास्तविकता को उकेरा जाता है ।

अब यहां उपन्यास की कुछेक ~~परिभाषाओं को~~ परिभाषाओं को रखने का उपक्रम हुआ है ताकि उपन्यास की मूल प्रवृत्ति और प्रकृति से परिचित हो सकें । इन परिभाषाओं में कुछ तो अंग्रेजी की परिभाषाएं हैं और कुछ हिन्दी की हैं :—

§1§ सर्वप्रथम न्यू इंग्लीश डिक्शनेरी की परिभाषा आती है जो इस प्रकार है — " Novel is a Fictional Prose of considerble Length, in which actions and characters are professing to represent those of real life are Portrayed in a Plot ".[14]

अर्थात् उपन्यास एक प्रकथनात्मक गद्ययुक्त कृति है, जिसका एक विशिष्ट आकार-प्रकार होता है तथा जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और घटनाओं को निश्चित क्रम में नियोजित किया जाता है ।

§2§ राल्फ फोक्स औपन्यासिक आलोचना के एक प्रमुख समालोचक हैं । उन्होंने अपने " नोवेल एण्ड द पिपुल" नामक ग्रन्थ में उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है — " The Novel is not merely a Fictional Prose, it's a Prose of man's Life, the First art to attempt the man as a whole and give's his expressions. ".[15]

अर्थात् उपन्यास केवल प्रकथनात्मक गद्य मात्र नहीं है, यह मानव-जीवन का गद्य है। वह पहली कला है जिसमें मनुष्य को उसके समग्र रूप में अंकित करते हुए उसकी भावनाओं को अभिव्यक्त किया गया है।

(3) अंग्रेजी के एक दूसरे विद्वान् I For Evans ने अपने ग्रन्थ "A short history of English Literature" में उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है — "Thus the Novel can be deseribed as a narrative in prose based on a story in which the outhor may Portray charactes and the life of an age and analyse sentiments and passions and the reactions of men and women to their environment." [16]

अर्थात् उपन्यास वह कथाश्रित प्रकथनात्मक गद्य है, जिसमें लेखक किसी पात्र का चरित्रांकन करते हुए एक युग-विशेष के जीवन को, उसके स्त्री-पुरुष की भावनाओं को, राग-विरागों तथा प्रतिक्रियाओं को उनके अपने परिवेश में विश्लेषित करता है।

(4) अंग्रेजी के एक दूसरे विद्वान् प्रोफेसर हरबर्ट जे. मुलर ने उपन्यास को परिभाषित करते हुए कहा है — "The Novel is typically a representation of human experence whether liberal or ideal and thererfor ineritably a comment upon life." [17]

अर्थात् उपन्यास मानव-अनुभवों का एक विशिष्ट रूप से किया गया प्रस्तुतीकरण है। यह प्रस्तुतीकरण आदर्शवादी अथवा स्वतंत्र ढंग से किया जा सकता है और अतएव उसे मानव-जीवन पर की गई एक टिप्पणी भी कह सकते हैं।

[5] अंग्रेजी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के जनक हेनरी जेम्स ने उपन्यास को इस प्रकार परिभाषित करने का यत्न किया है — " A Novel is in its broadest definition a personal a direct impression of life " 18

अर्थात् अपनी व्यापकतम परिभाषा में जीवन के वैयक्तिक एवं प्रत्यक्ष [अपरागत] प्रभाव का चित्रण है ।

इस प्रकार उपन्यास अर्थात् नोवेल का सूत्रपात पश्चिम में हुआ और हमारे यहां जब अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई तो अंग्रेजी शिक्षा के साथ "नोवेल " भी हमारे भाषा-साहित्य में अवतरित हुआ । हिन्दी के प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" से लेकर अद्यावधि निरंतर प्रगति कर रहा है । उसमें नयी-नयी अनेक औपन्यासिक विधाओं का जन्म भी हो रहा है , जैसे — सामाजिक , ऐतिहासिक आदि औपन्यासिक विधाएं तो उपन्यास के प्रारंभिक काल से चल रही हैं , पर इधर समाजवादी , आंचलिक , मनोवैज्ञानिक , पौराणिक , व्यंग्यात्मक , लघु उपन्यास , उपन्यासिका आदि आदि । ऐसी अनेकानेक औपन्यासिक विधाएं अस्तित्व में आ रही हैं । हिन्दी उपन्यास के उद्भव के साथ ही हिन्दी के विद्वानों , इतिहासकारों , आलोचकों और उपन्यासकारों ने उपन्यास-विषयक परिभाषाओं और अवधारणाओं पर सोचना शुरू कर दिया था । उनकी सोच या चिंतन ¥ के फलस्वरूप उपन्यास-विषयक जो अवधारणाएं समुद्भवित हुई हैं , उन पर यहां संक्षेप में विचार किया जायगा ।

[1] डा० श्यामसुन्दरदास ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है — " उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है । " 19

(2) हिन्दी के एक दूसरे आलोचक बाबू गुलाबराय ने अंग्रेजी में "नोवेल" की जो परिभाषा प्राप्त है उसके आधार पर उपन्यास को परिभाषित करते हुए कहा है — " उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बंधा हुआ वह कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है । "[20]

(3) पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव एवं गरिमा प्रेमचन्द के द्वारा प्राप्त हुए हैं । वस्तुतः औपन्यासिक विधा को हिन्दी में पूर्णरूपेण स्थापित करने का श्रेय प्रेमचन्दजी को ही जाता है । कदाचित् इसीलिए उनको उपन्यास-सम्राट का विरुद मिला होगा । स्वयं प्रेमचन्दजी की उपन्यास-विषयक परिभाषा इस प्रकार है — " मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं । मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उनके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है । "[21]

(4) इस विधा को अंग्रेजी में "नोवेल" कहा जाता है । अनेक भारतीय भाषाओं में इसके लिए "नोवेल" से मिलता-जुलता शब्द "नवलकथा", "नवल" इत्यादि का प्रयोग मिलता है । परन्तु हिन्दी में इसके लिए "उपन्यास" शब्द प्रयुक्त हुआ । "हिन्दी साहित्य कोश " में उपन्यास शब्द से ही उसकी व्युत्पत्ति के द्वारा ही उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है । यथा — " उपन्यास शब्द ' उप (समीप) तथा ' न्यास ' (थाती) के योग से बना है, जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु । अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब है । "[22]

{5} डा. एस.एन. गणेशन ने हिन्दी उपन्यास [illegible] साहित्य के अध्ययन पर शोध-कार्य किया था और उन्होंने अपने इस शोध-ग्रन्थ में उपन्यास को परिभाषित करते हुए लिखा है — " उपन्यास मनुष्य के सामाजिक वा वैयक्तिक अथवा दोनों प्रकार के जीवन का रोचक साहित्यिक रूप है , जो प्रायः एक कथा-सूत्र के आधार पर निर्मित होता है । "[23]

{6} आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जो हिन्दी के एक उद्भट एवं विचक्षण विद्वान् हैं और साथ-ही-साथ उपन्यासकार भी हैं , उन्होंने उपन्यास-विधा में उसके यथार्थ तत्त्व पर अधिक बल देते हुए कहा था — " उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास रहता है । "[24]

{7} उपन्यास का फलक विस्तृत होता है । उसमें जीवन और जगत की अनेक घटनाओं का [illegible] सन्निवेश होता है । वह अपने युग की तस्वीर होता है । इन दृष्टियों को ध्यान में रखकर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उपन्यास को आधुनिक युग के महाकाव्य की संज्ञा दी थी , क्योंकि पहले महाकाव्य द्वारा जो कार्य संपन्न होता था वह अब उपन्यास के द्वारा हो रहा है । आचार्य वाजपेयी की परिभाषा इस प्रकार है — " उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है । वह मनुष्य के जीवन और चरित्र की व्याख्या करता है । "[25]

{8} डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय औपन्यासिक आलोचना के एक सुप्रसिद्ध आलोचक हैं । उन्होंने उपन्यास-विषयक अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है — " उपन्यास यथार्थ मानव-अनुभवों एवं सत्य का आकलन है , वह जीवन की अनेकताओं में एकता तथा अपूर्णताओं में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है । "[26]

{9} प्रोफेसर डा. शिवकुमार मिश्र हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आयामों के पक्षधर आलोचक हैं। उनका विश्वास है कि समाजवादी यथार्थवाद की समूचा कृतित्व मनुष्य की उदात्त जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था का प्रमाण है। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, यथार्थवादी साहित्य-विमर्श उस सबको मनुष्यता की थाती समझता है। उन्होंने उपन्यास के सन्दर्भ में जो कहा है वह ज्ञातव्य है — " अपने यहाँ हो अथवा पश्चिम में, उपन्यास का इतिहास मूलतः यथार्थवादी उपन्यासों का इतिहास अथवा उपन्यास में यथार्थवादी केन्द्रीयता का इतिहास रहा है। यथार्थवाद की विजय को हम कथा-साहित्य के क्षेत्र में उसकी पूरी गरिमा के साथ देख सकते हैं। " [27]

{10} हिन्दी औपन्यासिक साहित्य के आलोचकों में प्रतिष्ठित ऐसे डा. कुंवरपालसिंह उपन्यास के विषय में जो कहते हैं वह ध्यानार्ह होगा — " उपन्यास का संबंध वास्तविक जीवन से है। वह महान घटनाओं की खोज नहीं करता, उसका रचना-क्षेत्र तो दैनिक जीवन की साधारण घटनाएँ हैं। समसामयिक उपन्यास तो वास्तविक जीवन से इतना घुल-मिल गया है कि वास्तविक जीवन और उपन्यास में अन्तर करना कठिन हो गया है। आज उपन्यास में युगबोध की अभिव्यक्ति और यथार्थ की पकड़ पहले से कहीं अधिक तीव्र और गहरी है। वर्तमान जीवन की जटिलताओं और सूक्ष्मताओं को सही रूप में अभिव्यक्ति देनेवाली यह एकमात्र विधा है। उपन्यास के ऊपर मानव-जीवन की इन्हीं वास्तविक परिस्थितियों के चित्रण का दायित्व है।.... उसने गंभीरता से मानवीय संबंधों पर सामाजिक मूल्यों का विवेचन किया है, अपनी नवीन दृष्टि और संवेदनशीलता के कारण वह युग की धड़कनों को स्वर प्रदान करता है। " [28]

{11} महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर तथा मेरे निर्देशक डा. पारुकान्त देसाई ने हिन्दी

उपन्यास के क्षेत्र में काफ़ी शोध-कार्य किया और करवाया है । उन्होंने उपन्यास पर विचार करते हुए लिखा है — " उपन्यास एक यथार्थधर्मी कथा-विधा है जिसमें वैयक्तिक या सामाजिक या दोनों प्रकार के यथार्थ का आकलन उसमें निरूपित देशकाल के परिप्रेक्ष्य में एक निश्चित जीवन-दृष्टि को केन्द्र में रखते हुए होता है । " [29]

उपर्युक्त सभी अवधारणाओं का नवनीत-तथ्य है कि उपन्यास जीवन की वास्तविक परिस्थितियों व घटनाओं का कलात्मक-साहित्यिक रूप है । यथार्थ से उसका गहरा सरोकार है ।

उपन्यास और यथार्थ :

ऊपर निर्दिष्ट सभी परिभाषाओं को एकसाथ देख जाने पर यह फलीभूत होगा कि सभी परिभाषाओं में "यथार्थ" की बात को किसी-न-किसी तरह रेखांकित किया गया है । सभी आलोचक एवं विद्वान् उपन्यास के सन्दर्भ में "यथार्थता" पर जोर देते हैं । " अतः यथार्थधर्मिता उपन्यास का प्राणतत्त्व है । उसकी वस्तु , पात्र , शिल्प, शैली आदि सभी में यथार्थता का निर्वाह किया जाता है । उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुलाकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता ; जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा कर अपने आदर्श गढ़ सकता है । महाकाव्य ' क्या होना चाहिए ' का विवेचन करता है । उपन्यास वह देता है जो हम हैं । यहां तक कि ऐतिहासिक उपन्यास में भी किसी-न-किसी प्रकार से साम्प्रतिक समस्या से जुड़े हुए रहे हैं । " [30]

साम्प्रतिक समय में नाटक और काव्य में भी यथार्थ स्थितियों का विवरण उपलब्ध होता है । अभिप्राय यह है कि इन काव्यरूपों में भी यथार्थ का आकलन होता रहता है । परन्तु अन्य साहित्यरूपों तथा

उपन्यास में बुनियादी अन्तर यह है कि दूसरे साहित्यरूपों में यथार्थ रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है । उनके लिए "यथार्थ" कोई अनिवार्य शर्त नहीं है । कोई नाटककार , कोई महाकाव्यकार अपने समय की सम्पूर्ण उपेक्षा करके चाहे तो गुप्त समय या पौराणिक समय पर कोई रचना कर सकता है , परन्तु उपन्यासकार ऐसा नहीं कर सकता । जिस प्रकार कहा गया है कि जहाज का पंछी लौटकर जहाज पर ही आ जाता है , उसी प्रकार उपन्यासकार चाहे किसी xxx भी काल या समय में गति करे , घूम-फिरकर वह किसी-न-किसी प्रकार से यथार्थ की भूमि पर आ जाता है । "चारुचन्द्रलेख" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें समय-सीमा की दृष्टि से विचार करें तो उन्होंने ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी अर्थात् मुसलमानी आक्रमणों के समय को लिया है , परन्तु उनकी दृष्टि बराबर आधुनिक समय पर रही है और उस समय की परिस्थितियों को वे वर्तमान के वातायन से देखते हैं । बात वे अतीत की करते हैं , परन्तु अतीत के द्वारा सम्बोधित वे आज के युग को करते हैं , अतः उसके प्रत्येक पृष्ठ से आह्वान का स्वर गुंजित होता है । सिद्धी मौला , गोरखनाथ , अक्षोभ्य भैरव जैसे पात्रों द्वारा लेखक ने एकाधिक बार कहलवाया है कि व्यक्ति-सिद्धियाँ बाहरी आक्रमणों के सम्मुख व्यर्थ सिद्ध होती हैं । संगठित संघ-शक्ति ही वहाँ काम आ सकती है । गुरु गोरखनाथ एक स्थान पर अमोघवज्र को कहते हैं — " सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है ।(आप) जलते हुए शस्य क्षेत्रों की उपेक्षा नहीं कर सकते । टूटते हुए मंदिरों से आँख नहीं मूंद सकते , कलपते हुए शिशुओं और घिघियाते हुए वृद्धों की ओर से कान नहीं बन्द कर सकते । आप संगठित होकर ही संगठित अत्याचार का विरोध कर सकते हैं । यह सुन्दरी-साधना , यह महान चीनाचार , यह चक्रपूजा , यह महाविद्या शक्ति आपको नहीं बचा सकती ।

जिस दिन कुलूतरी विहार एक सहस्र विदेशी सैनिकों ने ' दीन दीन ' कहकर हमला किया उस दिन फेरूक (फेरूक महासिद्ध) की विद्या न जाने कहाँ लुप्त हो गई । वशीकरण और संमोहन की दुरन्त कला एक-एक सहस्र चित्तों के मिलित जयोन्माद को रत्ती-भर भी इधर-उधर नहीं मोड़ सकी । "[3]

इसमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हमारे पराजय के कारणों का विश्लेषण किया है और प्रमाणित किया है कि शास्त्र , रूढ़ि और परंपरा के आदेश काल-सापेक्ष हैं , अतः उनमें समय-समय पर अन्वेषण होना चाहिए । इस प्रकार लेखक यहाँ यह संदेश देते हैं कि भारत को यदि प्रगति करना है तो उसे वैश्विक संदर्भों को ध्यान में रखना होगा । प्रगति विरोधी कारकों से बचना होगा और परंपराओं तथा रूढ़ियों में जो रुग्णावस्था को पहुँच गयी हैं संशोधन करना होगा । हर वस्तु को देखने का एक वैज्ञानिक नजरिया विकसित करना होगा । आज जब हमारे देश पर अनेक दिशाओं से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आक्रमण हो रहे हैं तब हमें उनसे सावधान और चौकन्ना रहने की प्रेरणा इस उपन्यास से प्राप्त होती है ।

इस प्रकार उपन्यास भले प्राचीन समय को लेकर है , परन्तु उसकी अन्तर्दृष्टि आज पर भी टिकी हुई है । पौराणिक विषय-वस्तु पर आधारित उपन्यासों में भी इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उसमें चित्रित घटनाएँ मानव-शक्ति को केन्द्र में रखकर ही नियोजित हों और उनमें चमत्कार के तत्व का तिरोभाव हो जाए । डा. नरेन्द्र कोहली ने इधर रामायण तथा महाभारत के पात्रों को लेकर उपन्यास-मालाओं का निर्माण किया है । परन्तु यहाँ भी बहुत-से पौराणिक सन्दर्भों का आख्यान लेखक ने आधुनिक दृष्टि से वैज्ञानिक पृष्ठभूमि और तार्किकता के परिप्रेक्ष्य में किया है ।

यहाँ यह ध्यातव्य रहे कि उपन्यासकार पौराणिक घटनाओं का अर्थघटन आधुनिक परिप्रेक्ष्य में करता है । डा० नरेन्द्र कोहली कृत "दीक्षा" उपन्यास में बहुत-से पात्रों और घटनाओं का आलेखन लेखक ने आधुनिक दृष्टिकोण को , तर्क और संगति को ध्यान में रखते हुए , चमत्कारिक तत्वों को निःसृत करते हुए किया है । यह पौराणिक तथ्य है कि भरत-शत्रुघ्न की शिक्षा वशिष्ट के हाथों हुई , जबकि राम और लक्ष्मण की शिक्षा विश्वामित्र के हाथों हुई । वसिष्ठ रघुकुल के राजपुरोहित थे और अयोध्या में रहते थे । विश्वामित्र एक वनवासी ऋषि थे । यह बिलकुल इस प्रकार है कि जैसे कोई व्यक्ति पूर्व-पत्नि के बच्चों को बोर्डिंग हाउस में रखे और वर्तमान पत्नि के बच्चों को अपने पास रखे । कैकेयी दशरथ की प्रिय रानी थी । अतः उसके पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा राजपुरोहित द्वारा हुई और राम-लक्ष्मण क्रमशः कौशल्या और सुमित्रा के पुत्र थे , जो अपेक्षाकृत ~~अक~~ अप्रिय या कमप्रिय रानियाँ थीं । अतः उनके पुत्रों को शिक्षा हेतु बाहर भेज दिया गया ।[32]

अहल्या-उद्धार की कथा को भी नवीन तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रखा गया है । पौराणिक कथा में यह बताया गया है कि गौतम ऋषि के अभिशाप से अहल्या शिला में परिवर्तित हो गयी थी , परन्तु कोहलीजी ने उसे मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में रखा है । इन्द्र कृत बलात्कार के कारण मारे आघात के अहल्या जड़ीभूत हो जाती है । वह विक्षिप्त और मूक हो गयी थी । अर्थात् मुहावरे की भाषा में या लक्षणा में वह मूर्तिवत् या पत्थर हो गयी थी । इन्द्रवाली घटना के पश्चात् ऋषि गौतम तथा आश्रमवासी उन्हें ~~छोड़कर~~ छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं और अहल्या उस निर्जन स्थान में प्रेत की भाँति जड़ीभूत होकर घूमती रहती है । राम की मानवसहज संवेदना जब उसे प्राप्त होती है , तब उसमें चेतना का कुछ संचार होता है । ठीक इसी तरह शिव , वशिष्ठ , विश्वामित्र

परशुराम आदि पात्रों को भी उन्होंने नवीन परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयत्न किया है । शिव को उन्होंने एक शस्त्रागार के समाहर्ता या नवीन आयुधों के आविष्कारक के रूप में चित्रित किया है । जैसे आजकल के छोटे-छोटे देश दूसरे देशों से अपनी रक्षा करने के लिए रूस और अमरिका जैसी महासत्ताओं ~~की~~ के मुखापेक्षी रहते हैं, ठीक उसी प्रकार शिव एक महासत्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके पास किसम-किसम के नये आयुध हुआ करते थे । देव और दानव दोनों उनसे सहायता प्राप्त करते थे ।[33]

डा. भगवतीशरण मिश्र ने कृष्ण-जीवन को लेकर "प्रथम पुरुष" और " पुरुषोत्तम " जैसे पौराणिक उपन्यासों का प्रणयन किया है । कृष्ण अपने शैशवकाल में कंस के नाना असुरों का वध करते हैं । उसको तर्कसंगत बनाने के लिए लेखक ने उसकी पृष्ठभूमि~~x~~का निर्मित करते हैं । कृष्ण कैसे अतुल बल प्राप्त करते हैं, कैसे रूप-यौवन उपलब्ध करते हैं और कैसी-कैसी युक्ति-प्रयुक्तियों से बकासुर, शकटासुर आदि का वध करते हैं यह संगतिपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है ।[34]

अभिप्राय यह कि पौराणिक उपन्यासों ~~के~~ का आलेखन करते समय भी उपन्यासकार की दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित रहती है । वह अतीत के द्वारा वर्तमान का आख्यान करता है कि उपन्यास यथार्थधर्मी विधा है और घटनाओं का आलेखन उसे यथार्थ और मर्यादा के परिप्रेक्ष्य में ही करने होते हैं ।

यथार्थ से सम्बद्ध होने के कारण उपन्यास में सामान्य निम्नवर्ग, सर्वहारा वर्ग के पात्र भी प्रमुख पात्रों की भूमिका में आने लगे हैं । उदयन, भोज, विक्रमादित्य आदि नृप पुराने कथा-साहित्य के नायक हुआ करते थे । इस आधुनिक यथार्थमुखी

साहित्य में कोई होरी, कोई धनिया, कोई हसनअली, कोई काली, कोई फनुली अब प्रमुख पात्र के रूप में आ सकते हैं।[35] पुराने आदर्शवादी साहित्य में "क्या होना चाहिए" की चर्चा केन्द्रीय होती थी, जबकि आज के इस यथार्थवादी साहित्य में "क्या हो रहा है ?" की चर्चा केन्द्रस्थ है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण आज का उपन्यासकार मनुष्य को उसके सच्चे रूप में, उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों के साथ, उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उसे निरूपित करते हैं।

उपन्यास और समाज का संबंध :

साहित्य और समाज परस्पराश्रित है। समाज के कारण ही साहित्य का अस्तित्व है और दूसरी ओर साहित्य समाज का मार्गदर्शन भी करता है। साहित्य को समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों कहा गया है। जिस प्रकार शरीर में कोई पीड़ा हो तो मुख के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है ; ठीक उसी प्रकार समाज में यदि कोई बुराई होती है, अनिष्ट होता है, तो साहित्य के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से हो जाती है। इस अर्थ में साहित्य समाज का मुख है। मनुष्य के कार्य, भविष्य की योजनाएँ इत्यादि मस्तिष्क द्वारा नियोजित होती हैं। ठीक उसी प्रकार समाज में जो हो रहा है उसके आधार पर, समाज में क्या होना चाहिए, समाज को किस दिशा की ओर अग्रसरित होना चाहिए, समाज के विकास में कौन-सी रूढ़ियाँ बाधक हो सकती हैं, समाज के विकास में कौन-सी परंपराएं उपकारक हो सकती हैं, इन सब कारकों का निर्धारण साहित्य के द्वारा समय-समय पर होता रहा है। इस अर्थ में साहित्य समाज का मस्तिष्क है। समाज में न्याय और विवेक की स्थापना का दायित्व साहित्य पर है। इस प्रकार समाज और साहित्य परस्पर अभिन्न है।

साहित्य और समाज का यह सम्बन्ध साहित्य के उद्भव-काल से ही चल रहा है। यदि हम हिन्दी साहित्य की बात करें तो उसके इतिहास को लगभग 1000 वर्ष हुए हैं । इन एक हजार वर्षों के इतिहास को मोटे तौर पर आदिकाल , भक्तिकाल , रीतिकाल तथा आधुनिक काल प्रभृति चार काल-खण्डों में विभक्त किया गया है । आदिकाल के समाज में वीरपूजा का महत्त्व था । कहा भी जाता था — वीर भोग्या वसुंधरा । वीरता , बहादुरी , शौर्य , दिलेरी आदि की गणना जीवन के परम मूल्यों के रूप में होती थी । ~~[illegible]~~ स्त्रियाँ वीर पुरुषों का वरण करती थीं । अतः इस समय जो प्रसिद्ध काव्यमयी रचनाएं हमारे सम्मुख आयीं उनमें वीरता का स्वर ही सबसे ऊपर था । इस ~~इस~~ समय हमें प्रेम और युद्ध (Love and war) का काव्य मिलता है । चूँकि समाज में वीरता का महत्त्व था , अतः साहित्य में भी वे ही प्रवृत्तियाँ उभरकर आयीं । भक्तिकाल तक आते-आते सामाजिक स्थितियों में फिर परिवर्तन आया । राजपूतों का पराजय हुआ , मुसलमान विजेता हुए । हिन्दुओं के सामने उनके मंदिरों को तोड़ा जा रहा था , मूर्तियों को खंडित किया जा रहा था , अतः प्रजा की धार्मिक आस्थाओं को बनाए रखने के लिए स्वामी रामानुजाचार्य , स्वामी रामानंद , स्वामी मध्वाचार्य , स्वामी निम्बार्काचार्य , महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसी विभूतियों ने धर्म-रक्षा के दायित्व को अपने ऊपर ले लिया । फलतः समाज में चारों तरफ भक्ति का वातावरण गुंजित हो उठा । कबीर , सूर , तुलसी , जायसी, मीरा , नरसिंह , नानक , नामदेव जैसे भक्तों के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष भक्तिमय हो उठा । इस प्रकार समाज में भक्ति का स्वर प्रमुख था , अतः साहित्य में भी एक मुख्य प्रवृत्ति के रूप में ~~[illegible]~~ प्रतिबिम्बित हुई ।

संवत 1700 से समाज की स्थिति में फिर से परिवर्तन

आया । यह मुगलों के पतन , मराठों के अभ्युत्थान और पतन तथा अंग्रेजों के आगमन तथा सत्ता पर काबिज होने का समय था । भारतवर्ष फिर एकबार छोटे-छोटे राज-रजवाड़ों में विभाजित हो गया । शासक-वर्ग पूर्णरूपेण विलासिता में आकंठ डूब चुका था ; चारों तरफ नृत्यगीत , संगीत के स्वर सुनाई पड़ते थे । शांति , समृद्धि , संपन्नता और क्षमता के समय ये ही बातें समाज के लिए शुभफलद होती हैं ; परंतु पतनोन्मुख समाज में , विगलित समाज में ये दूषण रूप हो जाती हैं । यह एक ऐसा युग था कि सुरा और सुन्दरी सबका काम्य हो गया था । शासक और धनिक वर्ग के लोग विलास में पूर्णतया निमग्न थे । फलतः रीतिकाल का घोर शृंगारिक साहित्य सामने आया ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का अभ्युदय सन् 1850 से माना जाता है । इस काल में अंग्रेजी सत्ता , नयी शिक्षा-नीति , औद्योगिकरण , नगरीकरण , आर्यसमाज , ब्रह्मसमाज , प्रार्थनासमाज , थियोसोफिकल सोसायटी , हिन्दू-महासभा की स्थापना जैसी घटनाओं के कारण समाज में नवजागरण की एक लहर दौड़ गई । अतः इस काल के साहित्य में भी हमें उक्त प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं । यहाँ एक तथ्य ज्ञातव्य रहे कि उपन्यास साहित्य की एक विधा है और उसका उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ है । अतः आधुनिक काल में नवजागरण के कारण जो सामाजिक सुधार व क्रान्ति की भूमिका निर्मित हुई उसमें उसका योगदान साहित्य की अन्य सभी विधाओं की तुलना में सर्वाधिक परिमाण में रहा है ।

ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी में नवजागरण की प्रवृत्ति के कारण समाज-सुधार के जो आंदोलन हुए , उनके कारण समाज में अनेक नये समीकरण उपस्थित हुए । अनमेल विवाह

का विरोध होने लगा, दहेज प्रथा का विरोध होने लगा । हिन्दू समाज में विधवाओं की स्थिति को लेकर नये ढंग से सोचने की शुरुआत हुई । सतीप्रथा को तो कानून द्वारा ही बन्द करवा दिया । नारी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार का व्याप बढ़ा । इन सब कारणों से नारी-चेतना उद्भूत हुई । फलतः आधुनिक काल में कथा-साहित्य में , विशेषतः उपन्यास में उक्त समस्याओं को लेकर समस्यामूलक उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ । प्रेमचन्द के "सेवासदन" , "निर्मला" , "कर्मभूमि" , "रंगभूमि" "प्रेमाश्रम " आदि सभी उपन्यासों में नारी-जीवन की विविध समस्याओं को उभारा गया है ।

नारी-विमर्श के उपरांत जो दूसरा मुद्दा सामने आया , वह मुद्दा है दलित विमर्श का । धर्म और शास्त्र के नाम पर दलित जातियों का हजारों वर्षों से शोषण हो रहा था । नवजागरण के कारण उसका विरोध हुआ । अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक समझा जाने लगा । ज्योतिबा फुले , डा. बाबा साहब आंबेडकर , महात्मा गांधी , ठक्कर बापा जैसे महानुभावों के कारण दलितोद्धार के विशेष प्रयत्न हुए । अतः इस समय का साहित्य इन सब समस्याओं के आलेखन से भरा हुआ है ।

समाज-सुधार के आंदोलनों के साथ-साथ भारत की स्वाधीनता की लड़ाई भी चल रही थी । यह लड़ाई दो स्तरों पर चल रही थी । एक तरफ महात्मा गांधी के नेतृत्व में विठ्ठलभाई पटेल , मोतीलाल नेहरू , वल्लभभाई पटेल , पंडित जवाहरलाल नेहरू , पं. मदनमोहन मालविया , लाला लाजपतराय , विपिनचन्द्र पाल इत्यादि नेता सत्य और अहिंसा के साधनों द्वारा तथा सत्याग्रह , असहयोग , विदेशी चीज-वस्तुओं के बहिष्कार द्वारा आंदोलन चला रहे थे तो दूसरी तरफ भगतसिंह , चन्द्रशेखर आज़ाद , बटुकेश्वर दत्त जैसे क्रान्तिकारियों के द्वारा हिंसात्मक लड़ाई भी चल रही थी । इन सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों का प्रतिबिम्ब हमें गांधीयुगीन साहित्य में

मिलता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारंभ में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए । उसने समाज के स्वरूप को ही बदल डाला । वैज्ञानिक चिंतन के कारण वस्तुवादी अभिगम में वृद्धि हुई । फ्रायड, एडलर, युंग, पावलोव, जिन पावागेट जैसे मनोवैज्ञानिक ; कार्ल मार्क्स, लेनिन, डार्विन, नित्शे, कामू, गांधी और टैगोर जैसे चिन्तकों के कारण समाज में एक नये दृष्टिकोण का निर्माण हुआ जिसे हम प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर युग के साहित्य में लक्षित कर सकते हैं ।

प्रेमचन्द का निधन सन् 1936 में हो गया, अतः सन् 1936 से 1947 तक की प्रेमचन्दोत्तरकालीन की सामाजिक, राजनीतिक, स्थितियों पर विचार करें तो मोटे तौर पर यह बात स्पष्टतया उभरकर आती है कि यह समय भारतीय राजनैतिक दृष्टि से संघर्ष का समय रहा है । सत्याग्रह, डांडीकूच, भारतछोड़ो आंदोलन, राउण्ड टेबल कान्फरंस तथा पूनाकरार जैसी घटनाएं इस बीच में घटित होती हैं । दूसरी तरफ भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, वीर सावरकर जैसे क्रान्तिकारी लोग हिंसात्मक ढंग से स्वाधीनता की लड़ाई को अंजाम दे रहे थे । राजनैतिक विचारधाराओं की दृष्टि से देखें तो एक तरफ कांग्रेस थी जिसमें कुछ समाजवादी तथा धर्म-निरपेक्षतावादी नेता थे ; दूसरी तरफ मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ § आर.एस.एस. § जैसी कट्टर साम्प्रदायिक शक्तियां उभर रही थीं । फ्रान्स तथा रूस की क्रान्ति के बाद देश में कम्युनिस्ट विचारधारा भी पनप रही थी । साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष निरंतर बढ़ता गया जिसकी ब्रिटिश छाया में भारत-पाकिस्तान का विभाजन हुआ । देशभर में दंगे फैल गये ।

आदमी आदमी के ख़ून का प्यासा हो गया । माँओं , बहनों , बेटियों और बहुओं की इज्जत-अस्मत से खेला गया । हजारों लोग घर से बेघर हो गये । इन सब स्थितियों को लेकर "भूले बिसरे चित्र " , "टेढ़े मेढ़े रास्ते ", "प्रश्न और मरीचिका " (भगवतीचरण वर्मा) ; " एक पंखुड़ी की तेज धार (सुरेन्द्रसिंह नरूला) ; " सती मैया का चौरा " (भैरवप्रसाद गुप्त) ; " शहीद और शोहदे " (मन्मथनाथ गुप्त) ; "झूठा सच " , " तेरी मेरी उसकी बात " (यशपाल) प्रभृति उपन्यास अस्तित्व में आये । यदि हमें उक्त समय-सीमा की सामाजिक , राजनैतिक स्थितियों को जानना-समझना हो तो हमें इन उपन्यासों से गुजरना होगा ।

भारत-पाकिस्तान विभाजन की दुर्धर्ष विभीषिकाओं से 15 अगस्त 1947 में लोमहर्षक साये में हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई । सन् 1948 के 30 जनवरी को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या हुई और मानो इसके साथ ही गांधी-मूल्यों की भी हत्या हो गई । स्वाधीनता से पूर्व हमारे नेता जो कहते थे , स्वाधीनता के उपरांत उनका आचरण उसके विपरीत हो गया । इस नग्न सत्य की बेबाक अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में देखी जा सकती है --

" पन्द्रह अगस्त 1947 वह मध्यबिन्दु है
हमारे देश की स्वाधीनता के इतिहास का ,
जहाँ से हमने पलटना सीखा ,
जहाँ से हमने उलटना सीखा ,
जहाँ से हमने मुड़ना सीखा
सिद्धान्तों से सिद्धान्तों की खोल को ओढ़कर ! " 36

अभिप्राय यह कि स्वाधीनता के बाद उससे पूर्व के सारे आदर्श और सिद्धान्त भूल गये । राजनीति एक गंदी राजरंगत में बदल

गयी । आचार-विचार तथा कथनी-करनी का अन्तर बढ़ गया । राजनेता , धार्मिक नेता , समाजसेवक , शिक्षक , अध्यापक, सरकारी कर्मचारी आदि सभी भ्रष्टाचार तथा कदाचार में तल्लीन हो गये । अंग्रेजी में कहावत है — सिजर की पत्नी शंका से परे होनी चाहिए ।" परन्तु हमारे यहाँ तो देश के प्रधानमंत्रियों पर भी भ्रष्टाचार के आरोप होने लगे हैं । खादी के जिस पहनावे को पहले इज्जत की नजरों से देखा जाता था , बाद में उसे व्यंग्य दृष्टि से देखा जाने लगा । देश भ्रष्टाचार में डूब गया । साम्प्रदायिक एवं प्रांतीय ताकतें जोर पकड़ने लगीं । केन्द्रीय सत्ता कमजोर होने लगी । राजनीति की काली छाया ने जीवन के तमाम मूल्यों को लील लिया । जब समाज और देश में ऐसी स्थिति का निर्माण हुआ तब उपन्यासों में भी उसका यथार्थ आकलन होने लगा । "मैला आँचल" (रेणु) , "जल टूटता हुआ "सूखता हुआ तालाब " (डा. रामदरश मिश्र) , " अलग अलग वैतरणी (डा. शिवप्रसाद सिंह) , " आधा गाँव (डा. राही मासूम रज़ा) , " काला जल " (गुलशेरखान शानी) , " सबहिं नचावत राम गोसाईं " (भगवतीचरण वर्मा) , " राग दरबारी " (श्रीलाल शुक्ल) , " जंगलतंत्रम् " (श्रवणकुमार गोस्वामी) , "एक पंखुड़ी की तेज धार (शमशेरसिंह नरूला) आदि उपन्यासों में हमें जीवन के ये टूटते - बिखरते मूल्यों का साक्षात्कार होता है ।

दूसरी तरफ भौतिकता , व्यक्तिवादी चिन्तन , नगरीकरण , औद्योगिकरण , शिक्षा , संयुक्त परिवार की टूटती विभावना, विभक्त परिवार की बढ़ती संभावनाएं नारी शिक्षा तथा नारी-विभावना में आया हुआ बदलाव , जीवन-मूल्यों में आया हुआ बदलाव आदि के कारण नगरीय जीवन भी अनेक प्रकार की समस्याओं से भर गया है । स्त्री-पुरुष संबंधों में बिखराव की

स्थिति ने जन्म लिया । दाम्पत्य-जीवन खंडित होने लगे । स्त्री-पुरुष यौन संबंधों में स्वच्छंदता का परिमाण बढ़ने लगा । इन सब प्रवृत्तियों का चित्रण "नदी ~~xxx~~ के द्वीप " §अज्ञेय § , "अन्धेरे बन्द कमरे " § मोहन राकेश § , " डाकबंगला " §कमलेश्वर § , "आपका बण्टी " § मन्नू भंडारी § , " चित्तकोबरा " § मृदुला गर्ग § , "पतझड़ की आवाजें " § निरुपमा सेवती § , बैसाखियों वाली इमारत " §रमेश बक्षी § , एक पति के नोट्स " § महेन्द्र भल्ला § , आदि उपन्यासों में पाया जाता है ।

नगरों और महानगरों में झोंपड़पट्टी के लोगों का जीवन किसी नरक के जीवन से कम नहीं होता । उसका यथार्थ चित्रण "मुर्दाघर§ §जगदंबाप्रसाद दीक्षित § , अनारो " § मंजुल भगत § , "बसन्ती" §भीष्म साहनी § , आदि उपन्यासों में मिलता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो सकता है कि उपन्यास और समाज का गहरा सम्बन्ध है । समाज में जो विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनपती या विकसित होती रहती हैं उनका चित्रण उपन्यासों में किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव होता है । अतः किसी काल-विशेष में किसी समाज-विशेष को समझने के लिए उपन्यासों का एक स्रोत के रूप में भी उपयोग हो सकता है । सन् 1915 से सन् 1936 तक की सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों का , उस काल-विशेष के इतिहास का अध्ययन करने हेतु प्रेमचन्द से अच्छा कोई दूसरा स्रोत नहीं हो सकता ।

प्रेमचन्द के समय तक उपन्यास का विकास :

उपन्यास के लिए अंग्रेजी में "नॉवेल" शब्द उपलब्ध होता है , जिसका कोशगत अर्थ "नवीन" होता है । अभिप्राय यह कि

योरोप में भी यह विधा एक नयी विधा थी । एपिक , ट्रेजडी , लिरिक आदि विधाएं तो वहां की प्राचीन विधाएं हैं , किन्तु "नोवेल " तो वहां पर भी एक नवागत विधा है । जब योरोप में औद्योगिक क्रान्ति का निर्माण हुआ तो उसके कारण समाज अधिक जटिल एवं संकुल हुआ । समाज की उस जटिलता के स्थापन हेतु किसी नये साहित्य रूप की तलाश थी । तब स्मौलेट , स्टर्न , फिल्डिंग आदि लेखकों को "नोवेल" के रूप में अपना वांछनीय साहित्य-रूप मिल गया । अतः उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में जब औद्योगिक क्रान्ति का प्रारंभ हुआ तो वही साहित्य-रूप हमारे यहां संक्रमित हो गया । हमें नया साहित्य-प्रकार खोजने की जेहमत नहीं उठानी पड़ी । तब तक हमारे यहां अंग्रेजी शासन का प्रारंभ हो चुका था और अंग्रेजी-शिक्षा की नींव पड़ चुकी थी । अंग्रेजी के माध्यम से हमारे यहां के प्रबुद्ध साहित्यकार इस नये साहित्य-रूप से भलीभांति परीचित हो रहे थे । अंग्रेजी नोवेल्स के अनुवाद भी हो रहे थे । रोनाल्ड रेगन तथा एलेक्जाण्डर डूमा , वाल्टर स्कोट जैसे आंग्ल लेखकों के उपन्यास अनुदित रूप में हमारे यहां आ रहे थे ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है — "अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का ‘ परीक्षागुरु ’ ही निकला था । "[37] वस्तुतः शुक्लजी के इस कथन के पीछे कारण यह रहा है कि स्वयं लेखक ने "परीक्षागुरु" की भूमिका में इसी आशय की एक टिप्पणी दी है ।— " अपनी भाषा में अब तक वार्तारूपी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हाल ठाठ से सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है , जैसे कोई राजा बादशाह सेठ साहूकार का लड़का था ; उसके मन में यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला । यहां ऐसा कुछ सिलसिला मालूम नहीं होता । लाला मदनमोहन एक

अंग्रेजी सौदागर की दुकान पर असबाब देख रहे हैं । लाला ब्रजकिशोर , मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शंभुदयाल उनके साथ हैं । इनमें मदनमोहन कौन , ब्रजकिशोर कौन , चुन्निलाल कौन और शंभुदयाल कौन हैं ? इनका स्वभाव कैसा है ? परस्पर संबंध कैसा है ? हरेक की हालत क्या है ? यहां इस समय किसलिए इकट्ठे हुए हैं ? ये बातें पहले से कुछ भी नहीं बताई गईं । हां , पढ़नेवाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायगा और आदि से अंत तक सब मेल मिल जायेगा । "[38]

इस प्रकार स्वयं लाला श्रीनिवासदास ने यह संकेत दिया है कि वे अंग्रेजी ढंग का "नोवेल" लिखने का उपक्रम कर रहे हैं । लाला श्रीनिवासदास एक बहुपठित लेखक थे और इन्होंने बेकन , गोल्डस्मिथ , विलियम कूपर , स्पेक्टेटर जैसे अंग्रेजी लेखकों को पढ़ा था और इन लेखकों का इन पर काफी प्रभाव भी था ।

परन्तु इधर जो खोजें हुई हैं उसके आधार पर अब यह प्रमाणित हो गया है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास आर्य समाजी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी का "भाग्यवती" उपन्यास ही है । नारी-शिक्षा की चेतना आधुनिक काल की एक मुख्य चेतना है और "भाग्यवती" उपन्यास में इसीको मुख्य "थीम" बनाया गया है । उसमें लेखक ने भाग्यवती नामक एक तेजस्वी विदुषी नारी का चित्रण किया है । किन्हीं कारणों से उसके पति के मन में कोई गलतफहमी पैदा होती है, जिसके कारण वे उसका त्याग कर देते हैं , परंतु भाग्यवती अनपढ़ या गंवार नहीं है । पढ़ी-लिखी है । अतः अपनी शिक्षा और संस्कार के बल पर नौकरी करते हुए जीवन-निर्वाह चलाती है । अंततोगत्वा जब उसके पति का भ्रम टूटता है तब वह पुनः भाग्यवती को अपना लेता है । इस प्रकार देखा जाय तो इस उपन्यास की समस्या आज भी उतनी ही ताजा एवं नवीन है । अपने समस्यागत संघर्ष के

कारण यह उपन्यास "परीक्षागुरु" से एक कदम आगे है । यहाँ हिन्दी के बहुत से आलोचक भाग्यवती की नारी-चेतना को लेकर प्रश्न कर सकते हैं कि पति द्वारा वापिस बुलाने पर भाग्यवती को उनके पास नहीं जाना चाहिए था । भला यह कोई बात है कि पति ने दुत्कार दिया तो चले गये और वापिस बुला लिया तो आ गये । परंतु यहाँ इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए कि यह उपन्यास सन् 1878 का है । उस समय नारी-चेतना जितनी विकसित हुई थी, उस परिप्रेक्ष्य में भाग्यवती की नारी-चेतना को श्लाघनीय ही कहा जा सकता है । दूसरे यह एक बहुत बड़ा तथ्य है कि पति द्वारा त्याग दिए जाने पर भाग्यवती पितृगृह या आत्महत्या का सहारा न लेते हुए आत्मनिर्भरता का परिचय देती है । अतः उस समय को देखते हुए भाग्यवती का यह व्यवहार एक जुझारू और साहसी नारी का ही समझा जायेगा ।

प्रेमचन्दपूर्वकाल का हिन्दी उपन्यास :

प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य के आलोक पुरुष हैं । हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव उनके कारण प्राप्त हुआ । फलतः इस क्षेत्र में उनका नाम केन्द्रीय स्थिति को प्राप्त करता है । अतः जब हिन्दी उपन्यास के विकास की बात होती है, तो प्रायः उसे तीन कालखण्डों में विभाजित किया जाता है — प्रेमचन्दपूर्वकाल, प्रेमचन्दकाल तथा प्रेमचन्दोत्तर काल । परन्तु हमारा आलोच्य विषय प्रेमचन्द से सम्बद्ध है, अतः हम केवल प्रेमचन्दकाल तक के औपन्यासिक विकास की चर्चा का उपक्रम रखेंगे ।

प्रेमचन्दपूर्वकाल में प्रमुखतया हमें दो ~~[illegible]~~ प्रकार के लेखक उपलब्ध होते हैं — नवसुधारवादी तथा सनातनपंथी । नवसुधारवादी

लेखकों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, पं. बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मन्नन द्विवेदी प्रभृति लेखकों की परिगणना कर सकते हैं । ये लेखक प्रगतिवादी थे तथा हिन्दू समाज में सुधार की प्रवृत्ति को अग्रिमता देते थे ।[39] यही कारण है कि फुल्लौरीजी नारी-शिक्षा को लेकर उपन्यास की रचना करते हैं । परन्तु सनातनपंथी लेखक पुरातनता के पक्षपाती थे । वे नारी-शिक्षा का विरोध करते थे । विधवा-विवाह को पाप समझते थे । संक्षेप में हिन्दी समाज में व्याप्त कुरीतियों और विसंगतियों के वे पक्षधर थे । ऐसे लेखकों में पं. किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि आते हैं । मेहता लज्जाराम शर्मा का एक उपन्यास है — "स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी"। इस उपन्यास में उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि शिक्षित महिलाओं का दाम्पत्यजीवन भलीभाँति नहीं व्यतीत होता ।[40]

दूसरी तरफ देवकीनंदन खत्री के तथा बाबू गोपालराम गहमरी के क्रमशः तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यास मिलते हैं । तिलस्मी उपन्यास में जादू-टोना, चमत्कार, तिलस्म, मंत्र-तंत्र, ऐयार और जाँबाज आदि की दुनिया होती है । उसके कथासूत्र नितांत मायवी होते हैं । वातावरण प्रायः सामन्तीय होता है । जीवन की वास्तविकताओं से उनका कोई सरोकार नहीं होता । पाश्चात्य काव्य-मीमांसा में कला का एक प्रयोजन जीवन से पलायन (Escape From Life) भी बताया गया है । इन उपन्यासों का प्रयोजन वास्तव से पलायन भी माना जा सकता है ।

जासूसी उपन्यास स्थूल कथावस्तु प्रधान होते हैं । उसमें सिवाय कौतूहल के और कोई दूसरा तत्त्व नहीं मिलता । ये प्रायः हल्की कोटि के उपन्यास माने जाते हैं और लोग समय व्यतीत (pass) करने के लिए उन्हें पढ़ते हैं । आज भी लोग कई बार लंबी यात्राओं की बोरियत को कम करने के लिए उनका वाचन करते हैं । इनका प्रयोजन

भी जीवन की करारी वास्तविकताओं से पलायन ही माना जायेगा ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास वस्तुतः कला के उल्लिखित प्रयोजन को ही सिद्ध करते हैं । उपन्यास एक यथार्थधर्मी विधा है और इन दोनों प्रकार के उपन्यासों का यथार्थ से कोई संबंध नहीं है । अतः यह कहा जा सकता है उक्त दो उपन्यासकारों ने हिन्दी के वास्तविक यथार्थधर्मी उपन्यासों को क्षति पहुँचायी है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया उक्त दो उपन्यासकारों ने उपन्यास की वास्तविक धारा में गतिरोध पैदा किया है, किन्तु दूसरी तरफ उनके कारण कुछ फायदा भी हुआ है । उनके कारण उपन्यास-विधा लोकप्रिय हुई है ।

देवकीनंदन खत्रीजी ने "चन्द्रकान्ता" और "चन्द्रकान्ता संतति" जैसी उपन्यासमालाओं का सृजन किया जिनमें सैकड़ों घटनाएं और हजारों पात्र हैं । इसे लेखक का प्रबंध-कौशल ही मानना होगा कि फिर भी लेखक कहीं चूकता नहीं है । इसमें खत्रीजीने "अरेबियन नाईट्स" की तरह कथा-दर-कथा की टेकनिक का इस्तेमाल किया है । गहमरीजी ने लगभग दो सौ के करीब जासूसी उपन्यास दिए हैं ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि औपन्यासिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से पूर्वप्रेमचन्दकाल में निम्नलिखित पांच प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं :—

(1) सामाजिक उपन्यास
(2) ऐतिहासिक उपन्यास
(3) जासूसी उपन्यास
(4) तिलस्मी उपन्यास
(5) अनूदित उपन्यास

वस्तुतः अनूदित उपन्यास की   गणना किसी भी भाषा-साहित्य की मूल संपदा के रूप में नहीं होती, क्योंकि यह उपन्यास उस भाषा की धरोहर समझे जाते हैं, जिसमें वे मूलतः लिखे गये हैं। परन्तु यहाँ पर अनूदित उपन्यासों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि हिन्दी उपन्यास के विकास का यह प्रारंभिक तबका है और उसमें इन उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास का कुछ दिशा-निर्देश भी किया है।

जासूसी और तिलस्मी प्रकार के उपन्यासों को भी साहित्यिक कोटि के उपन्यासों में स्थान नहीं मिलता है। अतः इस काल में सामाजिक और ऐतिहासिक यों दो प्रकार के उपन्यास मिलते हैं ऐसा कहा जा सकता है। उसमें भी जो ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं, उनके संदर्भ में डा. भारतभूषण अग्रवाल का मत है कि उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास न कहकर 'हिस्टोरिकल रोमान्सिस' कहना चाहिए।[41] ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना रहती है, परन्तु उसका विनियोजन परिवेश तथा कुछ सामाजिक-काल्पनिक पात्रों के निर्माण में होता है। ऐतिहासिक वृतान्त का आलेखन प्रामाणिकता से पूरे अध्यवसाय के साथ किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐतिहासिक उपन्यास में 80 % इतिहास एवं 20 % कल्पना रह सकते हैं। परन्तु प्रेमचन्द-पूर्वकाल में किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका विलोम पाया जाता है। अतः उनको ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक को शोध और अनुसंधान की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। लेखन से पूर्व अपने ऐतिहासिक ज्ञान और वस्तु-ज्ञान को व्यवस्थित करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार जायसकेरी का अभिमत उल्लेखनीय रहेगा — " mr. cary explined that he was now plotting the book. there was research yet to be done. Research, he explained, was sometimes a bore but it was mecessary For getting the polidical and social background of the work rigst

• 42 परन्तु ऐसा शोध-कार्य ऐतिहासिक उपन्यास के लेखन हेतु इस काल के किसी लेखक ने नहीं किया है । परवर्ती काल में वृन्दावनलाल वर्मा ~~अवश्यः~~ अवश्य इस दिशा में क्रियाशील रहे हैं ।

अतः समग्रतया कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दपूर्वकाल का उपन्यास अपनी प्रारंभिक अवस्था में था । वह स्थूल तथा अपरिपक्व था । कलात्मक आयामों का स्पर्श नहींवत् ~~दृष्टिगोचर~~ दृष्टिगोचर होता है । चरित्र-चित्रण की पद्धति का विकास नहीं हुआ था । वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से औपन्यासिक विधा अभी प्रारंभिक अवस्था में थी । उसको यथोचित सम्मान और गौरव प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुआ जिसकी विवेचना हम आगे करने जा रहे हैं ।

प्रेमचन्दयुग का हिन्दी उपन्यास :

वस्तुतः हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुआ । प्रेमचन्द ही वह पहले साहित्यकार हैं, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास को गंभीरता से लिया । प्रेमचन्द एक जागरूक एवं युगद्रष्टा साहित्यकार थे । उन्होंने अपने समय तक की विश्व की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किया था । वे हिन्दी के उपन्यास साहित्य को भी उस ऊँचाई तक ले जाना चाहते थे । फलतः उन्होंने न केवल लिखा, ~~मग~~ बल्कि अनेक लोगों को लिखने के लिए प्रेरित किया और एक युग का निर्माण किया । इस कार्य हेतु आर्थिक हानि को उठाते हुए भी उन्होंने "हंस " और "जागरण " जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन किया और उनके माध्यम से अनेक नवोदित साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया । वे स्वयं तो

विश्वसाहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करते ही थे, परन्तु इतना ही नहीं अपने समकालीन लेखकों को भी वे इस दिशा में अनुप्रेरित करते थे। 23 मार्च सन् 1912 में उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क को एक पत्र लिखा था, जो इस तथ्य की पुष्टि करता है। यथा – " पढ़ने के लिए लायब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो, स्कूली कोर्स की किताब नहीं, अभी एक किताब निकली है — The Aspects of Novel — इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह कि इन्सान उदार विचारवाला हो जाय, उसकी संवेदनाएं व्यापक हो जाएं। डा. टैगोर श्री के साहित्यिक और दार्शनिक निबंध बहुत ही अव्वल दर्जे के हैं। रोमांरोलां का "रामकृष्ण विवेकानंद" जरूर पढ़ो। उनकी "गांधी" भी पढ़ने के काबिल है। मार्ले मार्ले के साहित्यिक निबंध लाजवाब हैं। डा. राधाकृष्णन् की दर्शन संबंधी किताबें, टाल्सटाय का "What is Art" वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।"[45]

उपर्युक्त पत्र से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि प्रेमचन्द स्वयं तो एक जागरूक और अच्छे पाठक थे ही, अपने समकालीनों को भी इस दिशा में अच्छा मार्गदर्शन देते थे। जैनेन्द्रकुमार भी प्रेमचन्द के अध्ययन की विस्तृत परिधि से परिचित थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है — " मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वे कितने घनिष्ठ रूप से अवगत हैं। यूरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है, जानकर ही नहीं छोड़ दिया, भीतर से पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात किया है।"[44]

फलतः हिन्दी कथा-साहित्य में उन्होंने एक नये युग का सूत्रपात किया जिसे हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रेमचन्दयुग कहता

है । प्रेमचन्दयुग के लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" , पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" , चतुरसेन शास्त्री , भगवतीप्रसाद वाजपेयी , ऋषभचरण जैन , जयशंकर प्रसाद , प्रतापनारायण श्रीवास्तव , राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह , वृन्दावनलाल वर्मा , सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" , सियारामशरण गुप्त , गोविन्दवल्लभ पंत , राजेश्वरप्रसाद , धनीराम प्रेम , प्रफुल्लचन्द्र ओझा , श्रीनाथसिंह , उषादेवी मित्रा , शिवरानी देवी , तेजरानी दीक्षित , चन्द्रशेखर शास्त्री , गंगाप्रसाद श्रीवास्तव , गंगाप्रसाद मिश्र , जैनेन्द्रकुमार , इलाचन्द्र जोशी , भगवतीचरण वर्मा आदि मुख्य हैं । 45

उक्त लेखकों में से अंतिम तीन प्रेमचन्दयुग में अपने प्रारंभिक कृतित्व में थे । उनकी कला का विकास तो बाद में प्रेमचन्दोत्तरयुग में ही हुआ । प्रेमचन्द और उनके सामाजिक उपन्यासों का जादू कुछ ऐसा रहा कि वृन्दावनलाल वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखक जो बाद में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुए उन्होंने भी इस युग में कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक उपन्यास दिये ।

प्रेमचन्द का प्रारंभिक औपन्यासिक कृतित्व :

हिन्दी में प्रेमचन्दजी की प्रथम औपन्यासिक कृति "सेवासदन" मानी जाती है क्योंकि "वरदान" , "देवस्थान रहस्य" , "प्रतिज्ञा" आदि उपन्यास हिन्दी में "सेवासदन" के पश्चात् प्रकाशित हुए हैं । वस्तुतः "देवस्थान रहस्य" , "वरदान" , "प्रतिज्ञा" इत्यादि औपन्यासिक कृतियों का प्रकाशन पहले उर्दू में हो चुका था । वस्तुतः प्रेमचन्द उर्दू साहित्य में स्थापित हो चुके थे । परन्तु "सोज़ेवतन" की कहानियों को अंग्रेज सरकार ने जप्त कर लिया और प्रेमचन्द अंग्रेज सरकार के कोपभाजन हुए , इस स्थल उन्होंने नवाबराय (प्रेमचन्द

उर्दू में नवाबराय नाम से लिखते थे । (नाम का परित्याग करके हिन्दी में "प्रेमचन्द" नाम से लिखने का श्रीगणेश किया । अतः उन्होंने प्रथमतः अपनी उर्दू रचनाओं को हिन्दी में अनूदित किया । यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई लेखक एक भाषा को छोड़कर दूसरी भाषा में लिखने का प्रयास करेगा , तब वह सर्वप्रथम अपनी श्रेष्ठ रचना को ही उठायेगा । इस तरह प्रेमचन्दजी ने प्रथम "सेवासदन" उपन्यास को प्रकाशित करवाया जो अपेक्षाकृत उनकी प्रौढ़ (तब तक की रचनाओं में) रचना थी ।

यह स्मरणीय रहे कि प्रेमचन्दजी का प्रथम उपन्यास "असरारे मआबिद " (देवस्थान [illegible] रहस्य) है जो बनारस के उर्दू अखबार आवाज़-ए-ख़ल्क में सन् 1903 में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था । इस उपन्यास में एक महंतों और उनके चेलों चपाटों की पोल खोली गई है ।[46]

उसके पश्चात् सन् 1906 में "हमखुर्मा-ओ-हमसवाब " (प्रेमा) प्रकाशित हुआ , जिसमें उन्होंने विधवा-विवाह की समस्या को रेखांकित किया था । इसी उपन्यास को बाद में उन्होंने कुछ परिवर्तनों के साथ "प्रतिज्ञा" नाम से प्रकाशित करवाया था । सन् 1907 में "कृष्णा" नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसमें अंग्रेजी शासन की निन्दा की गई है । बाद में सन् 1930 में इसीको लेकर "गबन" उपन्यास की रचना हुई । सन् 1912 में "जलवा-ए-ईसार" नामक उपन्यास का प्रकाशन हुआ , जो बाद में सन् 1920 में "वरदान" नाम से प्रकाशित हुआ । इसमें लेखक ने अनमेल विवाह की समस्या को उठाया है । आर्थिक समस्या के कारणस्वरूप प्रतापचन्द्र जैसा शिक्षित, स्वाभिमानी एवं गुणवान युवक विरजन को नहीं प्राप्त कर सका और दूसरी तरफ उसकी शादी कमलाचरण जैसे कुलक्षण , पतंगबाज और आवारा व्यक्ति से हो गई । इस

उपन्यास में लेखक ने प्रतापचन्द्र और विरजन के प्रेम, उसकी असफलता और अंततः उसके उदात्तीकरण (Sublimation) को चित्रित किया है ।

उपर्युक्त उपन्यासों की भांति "सेवासदन" की रचना भी पहले उर्दू में हुई थी । उसका नाम था "बाजारे हुस्न" और बाद में सन् 1918 में "सेवासदन" के रूप में हिंदी में प्रकाशित हुआ । अभिप्राय यह कि "सेवासदन" से पूर्व नवाबराय उर्दू में कई उपन्यास लिख चुके थे । परन्तु बाद में जब वे हिन्दी में आये तब सर्वप्रथम "सेवासदन" प्रकाशित हुआ और उसके पूर्व की रचनाएं बाद में अलग-अलग नामों से प्रकाशित हुई ।

हिन्दी में प्रेमचन्द का कृतित्व :

हिन्दी में प्रेमचन्द के जो उपन्यास मिलते हैं, उनको कालक्रम से हम इस प्रकार रख सकते हैं :— /1/ सेवासदन (1918), /2/ वरदान (1920), /3/ प्रेमाश्रम (1920), /4/ रंगभूमि, (1925), /5/ कायाकल्प (1926), /6/ निर्मला (1926), /7/ प्रतिज्ञा (1929), /8/ गबन (1930), /9/ कर्मभूमि (1932), /10/ गोदान (1936), /11/ मंगलसूत्र-अपूर्ण (1936) ।

हिन्दी में प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास "सेवासदन" माना जाता है, जो पहले उर्दू में "बाजारे हुस्न" के नाम से प्रकाशित हो चुका था । इस उपन्यास में हमें प्रेमचन्दजी की चौमुखी सामाजिक दृष्टि का सर्वप्रथम परिचय होता है ।[47] डा. रामदरश मिश्र प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में लिखते हैं — " सेवासदन उपन्यास

कला और समस्याओं की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से [हिन्दी का] पहला परिपक्व उपन्यास है। "[48]

डा. रामविलास शर्मा ने इस उपन्यास के सन्दर्भ में लिखा है :- "[उस समय] 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलिस्मे होशरूबा' के पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, 'चन्द्रकान्ता' में अरुचि भी पैदा की। कलारुचि के लिए उन्होंने नये मापदण्ड कायम किए और साहित्य के नये पाठक और पाठिकाएं भी पैदा किए। यह उनकी जबरदस्त सफलता थी।"[49]

समस्याओं की पकड़, व्यंग्यात्मकता, कथा-संघटन तथा चरित्र-चित्रण इन सभी दृष्टियों से "सेवासदन" एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में अनमेल विवाह, विधवा समस्या, वेश्या समस्या, नैतिक भ्रष्टाचार जैसी अनेक समस्याओं का आकलन प्रेमचन्दजी ने किया है। दहेज न जुटा पाने के कारण सुमन जैसी सुशिक्षित एवं सुशील कन्या को गजाधर जैसे बूढ़े मूर्ख व्यक्ति को सौंप दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप सुमन अंततः वेश्या के कोठे पर जा पड़ती है। इस उपन्यास में ~~अनेक स्थानों पर~~ एक स्थान पर कुंवर अनिरुद्धसिंह कह रहे हैं — "हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है। चौक में चहल-पहल है। चकलों में रौनक है। यह मीनाबाजार हम लोगों ने ही सजाया है। ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी हैं। ये कठपुतलियां हमने ही बनायी हैं। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बंधु आदर-सम्मान के पात्र हों, वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहां जा सकता है? जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उस दिन दालमण्डी उजड़ जायेगी।"[50]

इसके अतिरिक्त मध्यवर्गीय झूठी शान, तत्कालीन हिन्दी साहित्य की दरिद्रता, ढोंगी धर्माधिकारी एवं महंत, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष, हिन्दुस्तानियों की गुलाम मनोदशा, भ्रष्टाचारी राजनेता जैसी अन्य समस्याओं पर भी प्रेमचन्दजी ने प्रकाश डाला है। भारतीयों की गुलाम मनोदशा पर विट्ठलदास नामक एक चरित्र से कहलवाया है — " आपकी अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान् किसी विषय के गुण-दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वे स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है। अभी तक आप तांत्रिक विद्या बात भी न पूछते थे। अब जो योरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया तो अब आपको तंत्रों में गुण दिखाई देते हैं। यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गयी-गुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में; अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहते हैं। इस प्रकार अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं। " 51

इस प्रकार लेखक स्थान-स्थान पर हमारी भौतिकता और मानसिकता पर व्यंग्य के द्वारा प्रहार करते हैं। डा. गंगाप्रसाद विमल ने उचित ही कहा है — " तत्कालीन भारतीय जन-मानस की चेतना को वहन करने वाला समर्थ उपन्यास "सेवासदन" ही है। 'सेवासदन' से यथार्थ चित्रण की वह यात्रा शुरू हो जाती है जिसकी उपलब्धि 'गोदान' के यथार्थवादी रूपांकन में होती है। " 52

सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य समस्यामूलक और सोद्देश्य है। अपने सभी उपन्यासों में प्रेमचन्द ने कोई-न-कोई सामाजिक समस्या को

कथानक (Story-motif) के रूप में लिया है । " प्रेमाश्रम " (1920) किसानों एवं जमींदारों के पारस्परिक संघर्ष को रेखांकित करता है । डा. एस.एन. गणेशन के शब्दों में — " भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग है , और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में ` प्रेमाश्रम ` महत्वपूर्ण रचना है । "53

इस बृहद उपन्यास में हजारों वर्षों से पददलित भारत का कृषक-समाज उसकी अज्ञानता , धर्मभीरुता , अन्धविश्वास , जमींदारों और उनके कारिन्दों के अत्याचारों का यथार्थ वर्णन उपलब्ध होता है । इन समस्याओं के समाधान के रूप में प्रेमचन्दजी ने हाजीपुर नामक एक ग्राम (Model village) की कल्पना की है । वस्तुतः ` प्रेमाश्रम ` अपने वस्तुगत में यथार्थवादी है , परन्तु उपन्यास का उत्तरार्द्ध आदर्शवादिता और अति-भावुकता का परिणाम है ।

"रंगभूमि" (1925) भी प्रेमचन्द का एक बृहद और बहुस्तरमुखी उपन्यास है । महात्मा गांधी तथा उनके राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में इस उपन्यास का सृजन हुआ है । सूरदास के पात्र द्वारा लेखक ने महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन को प्रतीकात्मक ढंग से उभारा है । राजा महेन्द्रप्रतापसिंह के द्वारा प्रेमचन्द ने उस वर्ग का भण्डाफोड़ किया है , जो एक तरफ तो लोगों की सेवा का दम्भ करते हैं , पर दूसरी तरफ अंग्रेज हाकिमों की चाटुकारी द्वारा अपनी सत्ता एवं शान को सुरक्षित रखने की चिन्ता में रात-दिन व्यस्त रहते हैं । ताहिरअली के रूप में प्रेमचन्दजी का आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष व्यापित हुआ है । कुछ लोगों ने "रंगभूमि" के सूरदास को महात्मा गांधी का प्रतिरूप माना है ।

परन्तु वस्तुतः वह नवजागृत भारतीय जनता के प्रतीक के रूप में और अधिक उभरकर आता है । हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि इस पात्र के गठन में गांधीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव कुछ हद तक परिलक्षित किया जा सकता है ।[54] इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने औद्योगीकरण की समस्या को भी उठाया है । प्रेमचन्दजी नहीं चाहते थे कि देश का किसान मजदूर हो जाय । अतः रंगभूमि का सूरदास जानसेवक के सिगरेट के कारखाने का जी-जान से विरोध करता है । यद्यपि सूरदास अपने अभियान में सफल नहीं होता, परन्तु वह एक सच्चा खिलाड़ी है । एक स्थान पर कहा गया है — " यह संसार उसके (सूरदास के) लिए रंगभूमि है । रंगभूमि में — खेल में हार-जीत तो लगी रहती है ; परन्तु हारने में विषाद क्या, और जीतने में उल्लास क्या ? खेलना अपना धर्म है, सच्चाई और ईमानदारी से खेलने वाला अपना कार्य करता चलता है । हार-जीत की चिन्ता करना उसका कार्य नहीं है । अधर्म से जीत भी गये तो क्या हो गया ? और धर्म से खेलकर हार भी गये तो क्या ? खेलनेवालों की परंपरा तो लगी रहेगी । कभी-न-कभी जीतेंगे ही ।"[55]

सूरदास के इन शब्दों में हमें महात्मा गांधी की संकल्प-शक्ति और साधन-शुद्धि के खयाल की प्रतीति होती है । इस प्रकार "रंगभूमि" तत्कालीन भारतीय सामाजिक, राजनीतिक परिवेश को व्याख्यायित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है ।

प्रेमचन्दजी की सम्पूर्ण विचारधारा में "कायाकल्प" (1926) अलग प्रकार का उपन्यास है । तर्कवादी और बुद्धिजीवी प्रेमचन्द तिलिस्म की दुनिया में कैसे पहुँच गये, यह समझ में नहीं आता है । इस उपन्यास में रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त मिलता है । ऐसा तिलिस्मी और चमत्कारपूर्ण उपन्यास प्रेमचन्द की कलम से कैसे निःसृत हुआ, यह आलोचकों के लिए एक बड़ी समस्या है । इस सन्दर्भ में डा. गणेशन लिखते हैं — " शायद भारत के हिन्दू

समाज में [illegible] अंधविश्वासों और रूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्द का ध्येय रहा है।" [56] परन्तु ऐसे नितान्त वायवी उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या को आकलित किया है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या उस समय की एक ज्वलंत समस्या थी और ऐसे उपन्यास में भी लेखक अपने समय के यथार्थ को विस्मृत नहीं कर पाया है, यह उनकी जागरूकता का प्रमाण है। "कर्मभूमि" प्रेमचन्दजी की प्रौढ़ औपन्यासिक कृति है। इसका कथानक अनेक सामाजिक समस्याओं तथा राजनीतिक आंदोलनों के तानों-बानों से बुना गया है। जमींदार-किसान संघर्ष, अछूतोद्धार, सूदखोरों का शोषण जैसे प्रश्नों का आकलन भी इसमें हुआ है। जिस प्रकार "प्रेमाश्रम" उपन्यास में प्रेमशंकर का प्रेमाश्रम मिलता है; ठीक उसी प्रकार यहाँ डा. शांतिकुमार का "सेवाश्रम" मिलता है। डा. शांतिकुमार के साथ मिल मिलकर शहर के लोग आंदोलन चलाते हैं, तो ग्रामीण लोगों का नेतृत्व अमरकान्त ले लेता है। डा. एस.एन. गणेशन ने इस सन्दर्भ में लिखा है — " कथानक तथा पात्रों के जीवनवृत्तों के साथ-साथ इसमें चित्रित वातावरण भी कम महत्व का नहीं है। अत्यन्त विशाल पृष्ठभूमि का उपयोग करने के कारण कथानक में तथा पात्रों के जीवनवृत्तों के क्रमिक विकास में थोड़ी-बहुत शिथिलता आई है। इसी कारण देश के तत्कालीन वातावरण को यथार्थ रूप में उपस्थित करने में लेखक को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है।" [57]

यह उपन्यास भी बहुआयामी तथा अनेकस्तरीय है। इसमें लेखक ने राजनैतिक चेतना के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक चेतना के स्वरूप को भी गूँथ लिया है। उसमें हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द समाज के यथार्थ की सही पहचान रखते थे और उसकी सही पड़ताल समाज की सभी परतों और आयामों के बीच कर सकते थे। इस सन्दर्भ में डा. रामदरश मिश्र का निम्नलिखित मत ध्यातव्य रहेगा —" वे [प्रेमचन्दजी] यह भी मानते

है कि सामाजिक या राजनीतिक समस्याएँ अलग-अलग नहीं हैं, वे एक-दूसरे ह से जुड़ी हुई हैं और इन समस्याओं का केन्द्रबिन्दु अर्थ की समस्या है, जिसकी पहचान हुए बिना कोई भी व्यक्ति समाज की संरचना को सही ढंग से पहचानने का दावा नहीं कर सकता। प्रेमचन्द की शिल्पगत सीमाओं की उपस्थिति यहाँ भी है, संयोगवाद और हृदय-परिवर्तनवाद यहाँ भी है, किन्तु समस्या की सही समझ और कुछ सशक्त चरित्रों (अमरकान्त, सुखदा, सकीना) की सृष्टि के कारण यह उपन्यास बहुत ही सशक्त हो उठा है।" [58]

"निर्मला" नारी-जीवन की नारकीयता पर आधारित उपन्यास है। इसमें लेखक ने यह प्रतिफलित किया है कि दहेज-प्रथा के कारण एक सुंदर, सुशील, कोमल, कमसिन लड़की निर्मला की जिन्दगी कैसे नरकतुल्य हो जाती है। पिता की मृत्यु के उपरांत निर्मला की माँ निर्मला के लिए अच्छा दहेज नहीं जुटा सकती थी। अतएव उसकी सगाई टूट जाती है और दहेज के अभाव में इस अरमानों से भरी हुई कोमल कन्या का विवाह तीन बच्चों के पिता, अधेड़, प्रौढ़ और शक्की किस्म के व्यक्ति मुंशी तोताराम जैसे दुहाजू से हो जाता है। मुंशी तोताराम का बड़ा लड़का मंसाराम निर्मला का हमउम्र है, अतः उसे लेकर तोताराम के मस्तिष्क में शंका-कुशंका के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं। फलतः पूरा परिवार नष्ट हो जाता है। "सेवासदन" की सुमन तथा "निर्मला" की निर्मला, दोनों एक ही समस्या की शिकार हैं, परन्तु दोनों की परिणति भिन्न-भिन्न ढंग से हुई है। समस्या की एकोन्मुखता तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण प्रेमचन्दजी का यह उपन्यास अत्यन्त ही सुगठित बन पाया है। प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में डा. रामदरश मिश्र कहते हैं —

" इसमें दहेज और अनमेल विवाह की समस्या उठाई गई है। अर्थाभाव से निर्मला की शादी बूढ़े से कर दी जाती है। हमारे समाज का

यह एक जाना-पहचाना परिदृश्य है । यह घटना कितनों की जिन्दगी बरबाद करती है । आर्थिक विषमता सामाजिक विषमता की जड़ है । यह संबंधों और मूल्यों को भी तोड़ती है ।"[59]

सन् 1907 में प्रेमचन्दजी ने उर्दू में "क्रिमना" नामक उपन्यास लिखा था ; जो बाद में 1930 में [illegible] " गबन" नाम से अपने परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हुआ । चरित्रांकन की दृष्टि से प्रेमचन्दजी का यह एक उल्लेखनीय उपन्यास है । लेखक ने इसमें स्त्रियों के आभूषण-प्रेम , मध्यवर्गीय[illegible] झूठी शान और दिखावा तथा पुलिस के हथकण्डों का बड़ा ही सुन्दर दिग्दर्शन किया है । झूठी शान तथा वैभव-प्रदर्शन में रमानाथ अपनी नवविवाहिता पत्नी जालपा को घर की सही आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ रखता है । फलतः पत्नी के आभूषण-प्रेम को पोसने के लिए जो ऋण उठाता है , उसे चुकाने के लिए वह दफ्तर से रुपये ले आता है और बाद में पत्नी के सामने बेइज्जत होने के डर से भाग जाता है । इधर जालपा स्थिति को संभाल लेती है । रमानाथ कलकत्ते पहुंचकर देवीदीन खटिक के यहां रहता है । एक बार वह पुलिस के हाथ में पड़ जाता है । पुलिस फोन पर प्रयाग पूछताछ करती है । इस पूछताछ से पुलिस को मालूम हो जाता है कि रमानाथ पर कोई गबन का मुकदमा नहीं है । इसका फायदा उठाते हुए पुलिस एक झूठे मुकदमे में रमानाथ को मुखबिर बनाती है । बाद में जालपा से सम्पर्क होने पर रमानाथ कोर्ट में सही स्थिति बता देता है । उपन्यास के अंत में रमानाथ का उदात्तीकरण बताया गया है । इस उपन्यास के सन्दर्भ में डा. रामदरश मिश्र लिखते हैं —

"गबन में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का स्थान-स्थान पर अच्छा उद्घाटन हुआ है । उच्च वर्ग के लोगों और नेताओं में मनोबल की कितनी हीनता है , कितनी असंगतियां हैं , कितना

दिखाया है, जीवन के वास्तविक मूल्यों की पकड़ किसमें का है, यह तथ्य देवीदीन खटिक की बातों से स्पष्ट होता है। रतन के पति के मरने के बाद तथाकथित बड़े लोगों का प्रतिनिधि मंडल उसके प्रति कितना विघातक आचार दिखाता है, वह उस वर्ग के बड़प्पन के नीचे क्रूरता और अवमानना का परिचायक है।" 60

"ग़बन" के सन्दर्भ में डा. मनोहर बंद्योपाध्याय के निम्नलिखित विचार भी ध्यातव्य हैं :— Premchand has given a more Floid and detailed treatment to the characters of middle class urban life in Ghaban than his earlyer Novels like Sevasadn or Nirmala " 61

"गोदान" प्रेमचन्दजी की प्रौढ़तम रचना है। उसे आलोचकों ने कृषक-जीवन का महाकाव्य कहा है। कृषक-जीवन की त्रासदी तथा उसके शोषण को यहाँ यथार्थतः स्थापित किया गया है। किसान का शोषण जमींदार और महाजन ही नहीं करते, परन्तु नीचे से ऊपर तक की एक समूची नौकरशाही श्रृंखला है, जो उसके लिए उत्तरदायी है। इस सन्दर्भ में डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं — " पटवारी, जमींदार के चपरासी, कारिन्दे, थानेदार, कान्स्टेबल, कानूनगो, तहसीलदार, डिप्टीमैजिस्ट्रेट, कलक्टर, कमिश्नर — दूसरे शब्दों में अंग्रेजों की सारी प्रशासनिक मशीनरी किसान के पीछे पड़ी हुई थी। यहाँ तक कि डाक्टर, इन्स्पेक्टर, विभिन्न महकमों के हाकिम, पादरी सभी किसान से रसद लेते थे। जमींदार जब किसी बड़े अफ़सर को दावत देता था, तो उसका भार भी किसानों पर ही पड़ता था। " 62

"गोदान" में हमें प्रेमचन्दजी की विकसित होती हुई मानवतावादी, जनवादी-यथार्थवादी दृष्टि का चरम उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है । प्रेमचन्द की संवेदना यहाँ एक नया मोड़ लेती है । यह केवल होरी का ही "गोदान" नहीं है, अपितु प्रेमचन्द की आस्था का भी "गोदान" है । पूर्व के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने अनेक सदनों, निकेतनों और आश्रमों की स्थापना करवायी है ; परन्तु अब इनका विश्वास सुधारवादी—गांधीवादी समाधानों से उठ गया है । इस सन्दर्भ में डा. एस. एन. गणेशन लिखते हैं — "अप्रमाणित आदर्शों, अपरीक्षित सिद्धान्तों तथा अर्द्ध-परीक्षित वादों से अपने आपको सम्बद्ध रखने के कारण उनके पूर्व-लिखित उपन्यासों में जो विफलताएं या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं, उन सबसे बहुत-कुछ मुक्त होकर वे यहां जीवन-मात्र को व्यंजित करने वाली यथार्थवादी कला के राजपथ ~~[illegible]~~ से अग्रसर होते दिखते हैं । .... कथा-कथन की कुशलता, चरित्र-चित्रण की सुचारुता, समस्याओं के अध्ययन की सूक्ष्मता आदि प्रेमचन्द के जितने गुण उनके प्रारंभिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे, वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं । पृष्ठभूमि अधिक विस्तृत हो गई है, जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक संतुलित हो गया है ; और इस तरह गोदान यथार्थवादी दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ आया है ।" [63]

प्रेमचन्दजी के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ~~[illegible]~~ उनके औपन्यासिक लेखन में क्रमशः प्रगति को लक्षित किया जा सकता है । प्रारंभ में वे आदर्शवादी थे, परन्तु बाद में क्रमशः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से होते हुए यथार्थवाद की ओर अग्रसर हुए हैं । होरी का कथान्त ही "गोदान" के सही अर्थों में यथार्थवादी होने की घोषणा करता है । जिन्दगीभर "मरजादा" के सामने घुटने ~~[illegible]~~ टेकनेवाले होरी का "गोदान"

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

बीस आनों से करना पड़ता है । यदि प्रेमचन्दजी आदर्शवादी होते तो "गोदान" का अन्त इस प्रकार न होता । यहां एक बात ध्यातव्य है कि "आदर्शवादी" शब्द का प्रयोग यहां उसके पारिभाषिक सन्दर्भ में किया गया है, अर्थात् आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद आदि आदि के अर्थ में, नहीं कि कोशगत अर्थ के सन्दर्भ में । अन्यथा वहां तो प्रेमचन्दजी भयंकर रूप से आदर्शवादी थे । तो इस अर्थ में, पारिभाषिक अर्थ में, प्रेमचन्दजी यदि आदर्शवादी होते तो वे किसी संस्था या सोसायटी के द्वारा होरी की आर्थिक अवस्था में सुधार लाने का उपक्रम जरूर करते, जैसा कि उन्होंने अपने प्रारंभिक उपन्यासों में किया है, परन्तु "गोदान" में उन्होंने ऐसा नहीं किया है । होरी के रूप में यहां मानवता मानो दम तोड़ रही है । होरी भारतीय किसान का एक औसत रूप है । इसके विपरीत यदि उसे अधिक प्रगतिशील बताते तो तत्कालीन भारतीय किसान का चित्र ही खोटा सिद्ध हो जाता । प्रेमचन्दजी ने होरी का यथातथ्य चित्रण किया है । किसान की नयी पीढ़ी के तेवर हमें प्रेमचन्द-साहित्य में ही चेतु (सेवासदन), बलराज (प्रेमाश्रम) और गोबर (गोदान) आदि में मिल जाते हैं । डा. इन्द्रनाथ मदान ने "गोदान" के बदले हुए स्वर को रेखांकित करते हुए कहा है — "यह उपन्यास केवल होरी का "गोदान" नहीं है । प्रेमचन्द की आस्था का भी "गोदान" है । सदनों, निकेतनों, आश्रमों में लेखक की आस्था का "गोदान" है । उनका विश्वास सुधारवादी, गांधीवादी आंदोलनों से उठ गया है । .... प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है ।"[64]

"गोदान" में हमें कहीं-कहीं बदलते हुए जमाने के तीखे तेवरों का भी अनुभव होता है । गोबर, धनिया, सिलिया की मां जैसे पात्रों में हमें इन तीखे तेवरों का एहसास होता है ।

उच्चवर्ग के लोगों द्वारा निम्नवर्गीय लोगों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उसका तीखा आक्रोश यहाँ दृष्टिगत होता है। ब्राह्मण एक तरफ़ तो अपनी कुलीनता बघारते रहते थे और धर्म की खेती काटते थे। परन्तु दूसरी तरफ़ किसी चमारिन के साथ यौन-संबंध रखने में उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता था। पंडित दातादीन का पुत्र सिलिया नामक चमारिन के साथ यौन-संबंध रखता है। एक स्थान पर सिलिया की माँ इस सन्दर्भ में व्यंग्य करते हुए कहती है —

"उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो। हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पीओ, हमारे साथ उठो-बैठो, हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धर्म हमें दो।" [65]

इस प्रकार प्रेमचन्द के लेखन में हम एक निरन्तर विकासशील प्रवृत्ति को लक्षित कर सकते हैं। सोद्देश्यता, मानवीय संवेदनात्मक संस्पर्श, मनोवैज्ञानिकता, आदर्श से यथार्थ की ओर क्रमिक विकास, सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म पकड़, राष्ट्रीयता तथा जनवादी चेतना जैसे अभिलक्षण जहाँ प्रेमचन्द साहित्य में ~~दृष्टि~~ दृष्टिगोचर होते हैं तो ~~अनेक~~ उपदेशक वृत्ति, कहीं-कहीं आरोपित आदर्शवाद, आकस्मिक घटनाओं का घटाटोप तथा कहीं-कहीं वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव जैसी कुछ त्रुटियाँ भी उनके लेखन में दृष्टिगत होती हैं। परन्तु यह त्रुटियाँ क्रमशः कम होती गई हैं और प्रेमचन्द की कला का चरमोत्कर्ष हमें "गोदान" में उपलब्ध होता है। प्रेमचन्द की मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था — "एक रत्न मिला था तुमको (हिन्दीवालों को), उसे भी तुमने खो दिया।" [66] इस

डा. पारुकान्त देसाई का यह कथन भी ध्यातव्य रहेगा कि —
" हिन्दीवालों ने उस रत्न को तो खो दिया , पर उस रत्न की ओर से मिला हुआ ' गोदान ' रूपी रत्न तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है ।" 67

प्रेमचन्दकाल के अन्य उपन्यासकार :

प्रेमचन्दकाल के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक " , पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" , आचार्य चतुरसेन शास्त्री , जयशंकर प्रसाद , सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला , राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह , वृन्दावनलाल वर्मा , भगवती प्रसाद वाजपेयी , ऋषभचरण जैन , प्रतापनारायण श्रीवास्तव , सियारामशरण गुप्त , गोविन्दवल्लभ पंत , राजेश्वरप्रसाद , धनीराम "प्रेम " , प्रफुल्लचन्द्र ओझा , श्रीनाथसिंह , उषादेवी मित्रा , शिवरानीदेवी , तेजोरानी दीक्षित , गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार , इलाचन्द्र जोशी , भगवतीचरण वर्मा प्रभृति उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं । उक्त उपन्यासकारों में से अन्तिम तीन उपन्यासकारों का कृतित्व प्रेमचन्दकाल में प्रारंभिक अवस्था में था । उनकी कला का समुचित विकास तो प्रेमचन्दोत्तर काल में ही हुआ ।

प्रेमचन्दकाल में हमें प्रमुखतया दो ही प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियां मिलती हैं — सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास । प्रेमचन्दकाल में सामाजिक समस्यामूलक उपन्यासों का जादू कुछ ऐसा छाया रहा कि वृन्दावनलाल वर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने भी प्रेमचन्दकाल में कुछ सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि की । जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात कर दिया था , परन्तु उसका यथेष्ट विकास तो बाद में ही हुआ । प्रेमचन्दोत्तरकाल में जिनको समाजवादी उपन्यास कहा

गया उसके प्रारंभिक अभिलक्षण हमें प्रेमचन्द , पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" , विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" , सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के उपन्यास तथा "कंकाल" जैसे उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने प्रेमचन्दकाल में "खवास का ब्याह" नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा , जो पृथ्वीराजरासो की कथा पर आधारित है । इस काल के उनके अन्य उपन्यास सामाजिक हैं जिनमें "हृदय की परख" , " हृदय की प्यास " , अमर अभिलाषा " आदि उल्लेखनीय हैं और नारी-समस्या पर आधारित हैं । इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्माजी ने विवेच्यकाल खंड में "गढ़कुण्डार" तथा "विराटा की पद्मिनी " नामक दो ऐतिहासिक उपन्यास दिए हैं । इस काल के उनके अन्य उपन्यासों में "लगन " , "संगम " , "प्रेम की भेंट " , "प्रत्याघात आदि उल्लेखनीय हैं जो सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं । ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन में वर्माजी की दृष्टि शोधमूलक रही है । एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है — " पहले इतिहास लिखने का विचार था , परन्तु किस्से-कहानियां , वीरगाथाएं सुनने का बचपन से व्यसन था और फिर मिल गये वाल्टर स्कॉट पढ़ने को , तो मैंने अपनी बात कहने का माध्यम उपन्यास चुना ।"[68]

प्रेमचन्दकाल के सामाजिक उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" को प्रेमचन्द-स्कूल का उपन्यासकार माना जाता है । विवेच्य काल में उनके "मां" तथा "भिखारिणी " नामक दो उपन्यास मिलते हैं । ये उपन्यास आदर्शवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं । बाबू गुलाबराय के मतानुसार "कौशिकजी निम्न कोटि के पात्रों में , जैसे भिखारियों में , मानवता के दर्शन कराने में सिद्धहस्त थे । ` भिखारिणी ` जस्सो जैसी निम्न कोटि की स्त्री में उच्च मानवीय आदर्शों की स्थापना करके वे मानो सिद्ध करते हैं कि भावों की उच्चता पर उच्चवर्ग का ही एकाधिकार नहीं है । ` मां ` में दो माताओं (सुलोचना तथा

सावित्री] द्वारा अपने-अपने पुत्रों पर पड़े हुए प्रभावों की तुलना है ।[69] इस प्रकार देखा जाय तो "माँ" का विषयवस्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अधिक अनुकूल है ।

प्रेमचन्दकाल के एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार के रूप में हम पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" को ले सकते हैं । "घण्टा" उनका प्रथम उपन्यास है । इसमें मन्दिर के घंटे के माध्यम से तथाकथित भक्तों के कुकर्मों का पर्दाफाश लेखक ने किया है । प्रेमचन्दकाल में उग्रजी के निम्नलिखित चार उपन्यास मिलते हैं — 1. चन्द हसीनों के खतूत, 2[1923], 2. दिल्ली का दलाल [1927], 3. बुधुआ की बेटी [1928], और 4. शराबी [1930] । "चन्द हसीनों के खतूत" पत्रात्मक शैली में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । इसमें लेखक ने मुस्लिम लड़की और हिन्दू लड़के के अंतर्जातीय और अंतर्धर्मीय प्रेम को दिखाने का साहस उस जमाने में किया था । "दिल्ली का दलाल" उपन्यास में नारियों के अवैध व्यापार को विषयवस्तु बनाया गया है । "शराबी" उपन्यास में शराब के दुष्परिणामों का विश्लेषण उपलब्ध होता है ।

"बुधुआ की बेटी " उग्रजी का एक ऐसा उपन्यास है जिसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की भरपूर क्षमता है । बुधुआ भंगी जाति का है । उसकी पुत्री राधिया अपूर्व सुन्दरी है । घनश्याम नामक गाँव का एक मनचला युवक प्रेम करने का नाटक करते हुए उसे धोखा देता है । इस प्रवंचना के कारण राधिया के मन में समूची पुरुष जाति के लिये एक प्रकार की ग्रंथि बंध जाती है । फलतः पुरुषों को अपने सौन्दर्य के मोहजाल में फंसाकर बाद में वह उन्हें पागल बनाकर बरबाद कर देती है । इस पुरुष जाति से वह अपना प्रतिशोध लेती है । उग्रजी ने अपने वर्ग के उच्चवर्गीय समाज में जो भ्रष्टाचार चलता था, उसका

नग्न चित्रण किया है । उनका यह यथार्थ या नग्न-चित्रण कहीं-कहीं अश्लिल×अश्लि×× अश्लीलता की परिसीमा को स्पर्श करता हुआ दृष्टिगोचर होता है । कदाचित् इसीलिए डा. सुरेश सिंहा उग्रजी को अतियथार्थवादी उपन्यासकार मानते हैं ।[70] परन्तु डा. भारतभूषण अग्रवाल का सोचना है कि उग्रजी जैसे लेखक किसी वाद के दायरे में नहीं आ सकते , क्योंकि उसके लिए किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिश्रुतता का होना आवश्यक है । इसका उग्रजी में सर्वथा अभाव दिखता है । डा. अग्रवाल उग्रजी के सन्दर्भ में जो लिखते हैं वह ज्ञातव्य है — " वस्तुतः उग्र का व्यक्तित्व इतना विशृंखल और विस्फोटक रहा है कि उसे किसी भी वाद में सम्मिलित करना अनुचित है , क्योंकि वाद के लिए किसी-न-किसी प्रकार की निष्ठा और स्थिरता आवश्यक होती है । पर उग्र सन् 1967 में अपने निधन के कुछ पहले तक निरंतर विचरणशील और अस्थिर रहे । उनका जीवन सदैव उबड़-खाबड़ भूमियों पर चलता रहा । नौटंकी , नाटकमंडली , फिल्म-कंपनी , साहित्य-सम्मेलन , पत्रकार-जगत और जेल से तक उनका विस्तार रहा । इस गतिशीलता में यदि वे अपने सृजनात्मक व्यक्तित्व को अपनी भौतिकचर्या से तटस्थ रहकर रचना कर सकते तो वे अत्यंत सफल विद्रोही रचना दे पाते क्योंकि उन्हें व्यंग्य और गद्यशैली पर सहज अधिकार प्राप्त था । पर उन्होंने अपने प्रतिभा को जुटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया और वे एक अलीक व्यक्तित्व बनकर रह गये । "[71]

प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नाम भी अग्रिम पंक्ति में आता है । प्रेमचन्दोत्तर काल में भी वे बराबर समस्यामूलक उपन्यासों की रचना करते रहे , परन्तु आलोच्यकाल सीमा में उनके जो उपन्यास मिलते हैं वे इस प्रकार हैं — "प्रेमपथ" (1926) , "मीठी चुटकी " (1927) , "अनाथ पत्नी " (1928) , "त्यागमयी"

(1932), "लालिमा" (1934), "प्रेमनिर्वाह" (1934), "पतिता की साधना" (1936)। इन उपन्यासों में वाजपेयीजी प्रायः नारी-समस्याओं का अंकन आदर्शात्मक ढंग से करते रहे हैं।

यथातथ्य नग्न-चित्रण के लिए ऋषभचरण जैन के उपन्यास उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। ऋषभजी ने प्रेमचन्दयुग के लेखन की एक कमी को पूरा किया है। प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-स्कूल के लेखकों में निम्नवर्ग, अति-निम्नवर्ग तथा मध्यवर्ग का तो चित्रण मिलता है, परन्तु उच्चवर्ग का चित्रण बहुत कम उपलब्ध होता है। प्रायः उसके शोषक रूप को ही उभारा गया है। ऋषभचरण जैन ने इस वर्ग के जीवन को उसके यथार्थ रूप में अंकित किया है। उनके उपन्यासों में समाज की गंदगी तथा कामजनित समस्याओं का भी निरूपण हुआ है। "मास्टर साहिब" (1927), "दिल्ली का व्यभिचार" (1928), "दिल्ली का कलंक" (1928), "वेश्यापुत्र" (1929), "भाई" (1930), "गदर" (1930), "सत्याग्रह" (1930), "बुरकेवाली" (1930), "चाँदनीरात" (1931), "रहस्यमयी" (1931), "भाग्य" (1931), "मधुकरी" (1933), "दुराचार के अड्डे" (1936), "तपोभूमि" (1936), "मंदिरदीप" (1936) आदि ऋषभजी के इस समय के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। "तपोभूमि" उपन्यास एक प्रयोगवादी उपन्यास है, जो उन्होंने जैनेन्द्रकुमार के सहलेखन में लिखा था।

इस काल के उपन्यासकारों में सियारामशरण गुप्त का भी विशिष्ट स्थान है। वे गांधीवादी-आदर्शवादी लेखक हैं। आलोच्यकाल में उनके दो उपन्यास उपलब्ध होते हैं — "गोद" तथा "अंतिम आकांक्षा"। "गोद" सन् 1933 का है और "अंतिम आकांक्षा" 1934 का है। प्रेमचन्दजी की तरह गुप्तजी ने भी अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग

निम्नवर्ग की समस्याओं को विश्लेषित किया है । "गोद" उपन्यास में हम उनके उदारवादी दृष्टिकोण को रेखांकित कर सकते हैं । इस उपन्यास में उसकी नायिका किशोरी जब निर्दोष प्रमाणित हो जाती है, तब दयाराम उसे स्वीकृत कर लेता है । इस प्रकार दयाराम के हृदय-परिवर्तन द्वारा वे अपने उदारमत की मानो [illegible] उद्घोषणा करते हैं । "अंतिम आकांक्षा" आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है । इसमें रामलाल नामक एक निम्नवर्ग के व्यक्ति को उपन्यास का नायक बनाया गया है । रामलाल निम्नवर्ग का है और नौकर का काम करता है । वह हमेशा लोगों की भलाई के लिए अपनी जान को जोखिम में डालता है । तथापि निम्नवर्ग का होने के कारण उसे सदैव लोगों के तिरस्कार का सामना करना पड़ता है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने छुआछूत तथा धार्मिक संकुचितता जैसे प्रश्नों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है । गुप्तजी का एक अन्य उपन्यास "नारी" भी बहुचर्चित रहा है । परन्तु उसका रचनाकाल प्रेमचन्दोत्तर युग में पड़ता है । अतः उसकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत होगी ।

यद्यपि गोविंदवल्लभ पंत को हिन्दी के पाठक नाटककार के रूप में जानते हैं, तथापि उन्होंने कई उपन्यासों की भी रचना की है । आलोच्य समय-सीमा में उनके दो उपन्यास उपलब्ध होते हैं — "प्रतिमा" तथा "मदारी" । "प्रतिमा" में उन्होंने समाज की अनेक विसंगतियों को उभारा है, तो "मदारी" में उन्होंने कुमाऊं प्रदेश के पहाड़ी जन-जीवन की समस्याओं को रेखांकित किया है । प्रकारान्तर से इस उपन्यास में हमें नगाधिराज हिमालय की प्राकृतिक स्वच्छटा के भी अनेक मनोहारी दृश्य उपलब्ध होते हैं ।

प्रेमचन्दजी के समकालीन औपन्यासिकों में प्रतापनारायण

श्रीवास्तव का नाम भी उल्लेखनीय समझा जाता है । यह ध्यातव्य रहे कि प्रायः उनके सभी उपन्यास "व" या "ब" से प्रारंभ होते हैं । विवेच्य काल में उनका "ब विदा" (1927) नामक उपन्यास मिलता है । उनका अधिकांश लेखन प्रेमचन्दोत्तरकाल में उपलब्ध होता है । "विदा" में उन्होंने शिक्षित मध्यवर्ग को चित्रित किया है । प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि हमारा तथाकथित शिक्षित वर्ग योरोपीय जीवन-शैली का अंधानुकरण कर रहा है । उपन्यास में उनका उपक्रम भारतीय जीवन-दृष्टि की मर्यादा को प्रतिनिष्ठित करने का रहा है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला मूलतः छायावादी कवि के रूप में विख्यात हैं, परन्तु प्रेमचन्दकाल में उनके "अलका" (1933) तथा "निरुपमा" (1936) नामक दो उपन्यास उपलब्ध होते हैं । "अलका" में उन्होंने अलका नामक एक लड़की की कथा-व्यथा को चित्रित किया है । अलका के माता-पिता की अकाल मृत्यु के उपरांत उस पर दुःखों के जो पहाड़ टूटते हैं, उनका सामना अलका धैर्य, साहस एवं जीवट के साथ करती है । उपन्यास में जमींदारों के अत्याचार तथा इनसे अफसरों की मिली-भगत को भी यथार्थतः आकलित किया गया है । "निरुपमा" उपन्यास में निरालाजी ने अछूत समस्या को एक दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है । इस उपन्यास का नायक डा. कुमार उच्चवर्ण का है । वह लंडन विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि लेकर भारत लौटता है । परन्तु उसे कोई ढंग की नौकरी नहीं मिलती । अतः समाज पर व्यंग्य करने के लिए वह चमार का पेशा अपना लेता है । इस वजह से समाज उसका तथा उसके परिवार का बहिष्कार करता है ।

"निराला" की भाँति जय शंकर प्रसाद भी मूलतः कवि और नाटककार हैं, परन्तु आलोच्यकाल में उनके दो उपन्यास मिलते हैं —

"कंकाल" (1929) तथा "तितली" (1934) । "कंकाल" ~~प्रेम~~ प्रसादजी का एक सफल यथार्थवादी उपन्यास है । इस उपन्यास के संदर्भ में स्वयं प्रेमचंदजी लिखते हैं : " यह प्रसादजी का पहला ही उपन्यास है , पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं , जिन्हें इसके सामने रखे जा सकते हैं । " 72 प्रस्तुत उपन्यास में प्रसादजी ने अभिजात वर्ग की [illegible] त्रुटि का मखौल उड़ाया है । डा. मक्खन-लाल शर्मा के मतानुसार कंकाल यथार्थवादी समस्यामूलक उपन्यास है , जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है , उनका हल नहीं दिया गया है ; कला की दृष्टि से उसे उच्च कोटि का मानदण्ड माना गया है ; क्योंकि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है । 73

वृन्दावनलाल वर्मा प्रेमचन्दयुग के एक प्रमुख कलाकार हैं । डा. भारतभूषण अग्रवाल ने वर्माजी के सम्बन्ध में लिखा है : " जिस प्रकार प्रेमचन्दजी ने पहली बार सामाजिक उपन्यास को गंभीर स्तर पर पहुंचाया था , उसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने पहली बार ऐतिहासिक उपन्यास को गरिमा प्रदान की । " 74

विवेच्यकाल में उनके "गढ़कुण्डार" (1927) , "लगन" (1927), "संगम " (1927) , कुंडलीचक्र" (1928) , " प्रेम की भेंट " (1928), "प्रत्यागत" (1929) , "विराटा की पद्मिनी " (1930) आदि उपन्यास उपलब्ध होते हैं । "गढ़कुण्डार" और "विराटा की पद्मिनी" ऐतिहासिक उपन्यास हैं और शेष सभी सामाजिक । इसे प्रेमचन्दजी का एक प्रभाव ही समझना चाहिए कि जो उपन्यासकार बाद में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में विख्यात हुआ , उसने भी प्रेमचन्दयुग में अनेक समस्यामूलक उपन्यासों की रचना की । वर्माजी पर अंग्रेज उपन्यासकार

वाल्टर स्काट का प्रभाव है । भारतीय इतिहास का अध्ययन उनके रस का विषय था । भारत के इतिहास में कहीं-कहीं वे संशोधन भी करना चाहते थे । इस संदर्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है — " पहले इतिहास लिखने का विचार था , परन्तु किस्से-कहानियाँ , वीरगाथाएँ सुनने का छुटपन से व्यसन था और फिर मिल गये वाल्टर स्काट पढ़ने को , तो मैंने अपनी बात कहने का माध्यम उपन्यास चुना ।"[75]

इलाचन्द्र जोशी , भगवतीचरण वर्मा तथा जैनेन्द्र इन तीन उपन्यासकारों के कृतित्व का विकास प्रेमचन्दोत्तरकाल में ही हुआ है । विवेच्य काल में उनकी कुछेक औपन्यासिक कृतियाँ समाविष्ट होती हैं ।

प्रेमचन्दयुग में व्यक्तिवादी एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को सर्वाधिक महत्व देनेवालों में इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के नाम मुख्य हैं । जोशीजी युंग , फ्रायड , एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं । उनके अनुसार व्यक्ति का अहंभाव ही उसको समाज से अलग करता है । व्यक्ति का यह अहंभाव उसकी आर्थिक शक्तियों या अन्य प्रकार की शक्तियों से उत्पन्न होता है । इसके परिणामस्वरूप अहंकेन्द्रित व्यक्तिवादी मनुष्य समाज की चिन्ता नहीं करता है । फलतः उस पर सुधारवादी या आदर्शवादी दृष्टिकोण का भी कोई असर नहीं पड़ता । इस प्रकार जोशीजी को शरतचन्द्र या प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण ग्राह्य नहीं है । प्रेमचन्दयुग में उनका "घृणामयी" [लज्जा] नामक उपन्यास उपलब्ध होता है । वस्तुतः जोशीजी के उपन्यासों की मूल प्रेरणा मुख्यतः मनोवैज्ञानिक चिंतन है और यह पश्चिमी विचारकों एवं लेखकों के माध्यम से उनकी कृतियों में आया है ।

जैनेन्द्रकुमार का दृष्टिकोण भी मुख्यतः व्यक्तिवादी है । वे प्रेमचन्द के सामाजिक का विरोध करते हुए व्यक्ति और परिवेश की उलझनों को ही अपनी औपन्यासिक कृतियों का विषय बनाते हैं । वस्तुतः जैनेन्द्रजी व्यक्ति के अन्तर्मन के कलाकार हैं और उनका दृष्टिकोण प्रेमचन्द के ठीक विपरीत है । प्रेमचन्द व्यक्ति को समाज का अंग समझते हैं ; उसके सुख-दुःख , उत्थान-पतन का संबंध , समाज से जोड़ते हैं ; समाज के उत्थान में ही उसका उत्थान देखते हैं । किन्तु जैनेन्द्र ऐसा नहीं समझते । वे व्यक्ति की सत्ता को मानकर चलते हैं और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के कायल हैं । वे स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करते हुए मानव-मन की भावनाओं को समझने समझाने का प्रयास करते हैं । उनके उपन्यासों में व्यापक जीवनानुभूति की अपेक्षा वैयक्तिक समस्याओं और वैयक्तिक गतिविधियों का निरूपण मुख्यतया मिलता है । समाज जिन व्यक्तियों को हेय समझता है वे उन्हें भी सहानुभूति और गरिमा प्रदान करते हैं । प्रेमचन्दयुग में उनके "परख" और "सुनीता" नामक दो उपन्यास मिलते हैं जो उक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं । इन उपन्यासों में नर-नारी का प्रेम , वासना का दमन और उसके दुष्परिणाम आदि के विश्लेषण को सफलता के साथ अंकित किया गया है । जैनेन्द्रजी के दृष्टिकोण पर गांधीवादी दर्शन का प्रभाव भी देखा जा सकता है ।

भगवतीचरण वर्मा का व्यक्तिवाद अहंवाद की सीमाओं को स्पर्श करता है । आँग्ल लेखकों में अलेक्जाण्डर ड्यूमा , अनातोले फ्रान्स तथा बंगला लेखकों में शरतचन्द्र आदि का प्रभाव उन पर देखा जा सकता है । परन्तु स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के कारण वे कभी भी स्वाध्याय-प्रिय नहीं बन सके । अहंवादी होने के कारण वे प्रायः अपने ही चिंतन-मनन पर दारोमदार बांधते हुए प्रतीत होते हैं । [76] प्रेमचन्दकाल में वर्माजी के दो उपन्यास उपलब्ध होते हैं — "पतन" (1928) और "चित्रलेखा" (1934) ।

उपर्युक्त दोनों ही उपन्यास इतिहास के भ्रम पर आधारित एक प्रकार के रम्याख्यान हैं ।[77] "पतन" की अपेक्षा में "चित्रलेखा" अधिक परिपक्व कृति है । इसमें लेखक ने पाप और पुण्य की दार्शनिक मिमांसा की है । बहुत से आलोचक "चित्रलेखा" पर अनातोले फ्रान्स की विख्यात कृति "ताइस" का प्रभाव परिलक्षित करते हैं । इस संदर्भ में वर्माजी का कथन है -- " मेरी ' चित्रलेखा ' और अनातोले फ्रान्स की ' ताइस ' में इतना ही अन्तर है, जितना मुझमें और अनातोले फ्रान्स में है । "चित्रलेखा" में मेरा अपना दृष्टिकोण है, मेरी निजी साधना है, मेरे जीवन का संगीत है । "[78]

प्रेमचन्दकाल के अन्य उपन्यासकारों में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, राजेश्वर प्रसाद, धनीराम प्रेम, श्रीनाथसिंह, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, चन्द्रशेखर शास्त्री, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, उषादेवी मित्रा, तेजोरानी दीक्षित, शिवरानीदेवी आदि की गणना हो सकती है । विवेच्य काल में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया "तरंग " नामक उपन्यास प्राप्त होता है । राजेश्वरप्रसाद कृत "कंच" तथा धनीराम प्रेम कृत "वेश्या का हृदय " वेश्या समस्या पर आधारित उपन्यास हैं । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के उपन्यास "अप्सरा" में भी वेश्या समस्या का आकलन हुआ था । श्रीनाथसिंह कृत "क्षमा" तथा प्रफुल्लचन्द्र ओझा कृत "तलाक" उपन्यास अनमेल विवाह की समस्या पर आधारित उपन्यास हैं । चन्द्रशेखर शास्त्री के उपन्यास "विधवा के पत्र" में विधवा-समस्या को चित्रित किया गया है, तो गंगाप्रसाद श्रीवास्तव कृत "गंगाजमनी" में तत्कालीन समाज की नग्नता को बेनकाब किया गया है । शिवरानीदेवी कृत " नारी हृदय ", उषादेवी मित्रा कृत "वचन का मोल " तथा तेजोरानी दीक्षित कृत "हृदय का कांटा " आदि उपन्यास नारी जीवन के आदर्शों पर आधृत हैं ।

संक्षेप में प्रेमचन्दकाल के उपन्यासों में मूलतः सामाजिक समस्याओं का आकलन उपलब्ध होता है । ये लेखक सोद्देश्य लेखन (
) को लेकर चले हैं और उनमें मानवीय संवेदना तथा राष्ट्रीयता के भाव कूट-कूट कर भरे हैं । प्रेमचन्द तथा अन्य कुछ लेखकों में औपन्यासिक कला की दृष्टि से आदर्श से यथार्थ की ओर का एक क्रमिक विकास मिलता है , परन्तु अधिकांश लेखकों में उपदेशक वृत्ति , आरोपित आदर्शवाद , आकस्मिक घटनाओं का आधिक्य तथा वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव जैसे औपन्यासिक कलागत-शिल्पगत दोष दृष्टिगत होते हैं ।

तत्कालीन युगबोध :

प्रेमचन्द का लेखनकार्य तो प्रायः सन् 1901 से शुरू हो गया था । किन्तु हिन्दी साहित्य में उनका आविर्भाव सन् 1918 से "सेवासदन" के प्रकाशन के साथ माना जाता है । प्रेमचन्दजी का निधन सन् 1936 में हुआ । अतः 1918 से 1936 तक का युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में , कथा-साहित्य के सन्दर्भ में , प्रेमचन्दयुग नाम से अभिहित है । यह समय सामाजिक , राजनीतिक , धार्मिक आदि दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण और उथल-पुथलों से भरा हुआ दृष्टिगत होता है । इसकी पृष्ठभूमि में ब्रह्मोसमाज , आर्यसमाज , प्रार्थना-समाज , थियोसोफिकल सोसायटी जैसे धार्मिक-सामाजिक आंदोलन पाये जाते हैं , जिनके चलते अनेक पुरानी रूढ़ियों और परंपराओं पर पुनर्विचार की प्रक्रिया शुरू हो जाती है । बहुत-सी रूढ़िग्रस्त मान्यताओं और अंधविश्वासों को नकारा जाता है । दूसरी ओर कांग्रेस में महात्मा गांधी के प्रवेश के कारण उसकी गतिविधियां बहुआयामी हो जाती हैं । महात्मा गांधी देश को केवल अंग्रेजों से स्वाधीन ही नहीं कराना चाहते थे , अपितु वे सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वाधीन और जागृत करना चाहते थे । राष्ट्र की समग्र ऊर्जा में वे चैतन्य फूंकना चाहते थे , फलतः अंग्रेजों के

खिलाफ छेड़े अहिंसात्मक आंदोलन के उपरांत वे अस्पृश्य-निवारण, ग्रामोद्धार, कुटिर-उद्योग, खादी प्रचार, शराबबंदी, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार, नारी-शिक्षा, दलितों का उद्धार, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार-प्रसार, हिन्दू-मुस्लिम एकता जैसे मुद्दों को लेकर चल रहे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध सन् 1919 में समाप्त हो चुका था। इस युद्ध में भारत ने इंग्लैंड को पूर्णतया सहयोग दिया था। उस समय गांधी सहित कांग्रेस के सभी बड़े-बड़े नेताओं ने सोचा था कि युद्ध के उपरांत अंग्रेज भारत को स्वाधीन करने के सन्दर्भ में सहानुभूतिपूर्वक सोच-विचार करेंगे, परन्तु हुआ इसके ठीक विपरीत। अंग्रेजों ने युद्ध की समाप्ति पर भारत के हितों की लेशमात्र चिन्ता न करते हुए सन् 1919 में रौलेट-एक्ट पास किया, जिसमें भारतीय नागरिकों के रहे-सहे अधिकार भी छीन लिये गये। हमारे इतिहास में इसे "काला-कानून" नाम दिया गया है। देशभर में इसका विरोध हुआ। विचारों की एक आंधी-सी आ गई। पंजाब के अमृतसर शहर में अंग्रेज सरकार की नीतियों के खिलाफ एक आम सभा का आयोजन हुआ। यह सभा जलियांवाला बाग नामक स्थान पर हुई थी। हजारों लोग मंत्रमुग्ध होकर देशभक्ति के भाषण सुन रहे थे, तभी जनरल डायर ने बिना किसी पूर्व सूचना के निहत्थे लोगों पर मशीनगनों द्वारा गोलियां चलाईं। हजारों स्त्री-पुरुष, बच्चे, बूढ़े जनरल डायर की मूर्खता और बर्बरता के शिकार हुए। इतिहास में इसे "जलियांवालाकांड" के नामसे दर्ज किया गया है। न केवल भारत में अपितु विश्वभर में इस नृशंस घटना की भर्त्सना हुई।

प्रेमचन्द काल की एक प्रमुख राजनीतिक घटना के रूप में हम गांधीजी के आविर्भाव को ले सकते हैं। गांधीजी का अहिंसा और

सत्याग्रह का सिद्धान्त दक्षिण अफ्रिका में सफल हो चुका था । भारत के नेताओं का ध्यान भी दक्षिण अफ्रिका की घटनाओं पर लगा हुआ था । अतः गांधीजी सन् 1915 में जब भारत लौटते हैं, तब उनका ~~[illegible]~~ खूब गर्मजोशी से स्वागत किया जाता है । अपने राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले की सलाह का अनुसरण करते हुए प्रथमतः वे भारतवर्ष का प्रवास करते हैं और भारतवासिनी गरीब जनता की यथार्थ स्थिति का मुआईना करते हैं । सन् 1915 में ही अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे ~~[illegible]~~ सत्याग्रह आश्रम की स्थापना होती है । सन् 1920 में लोकमान्य तिलक का निधन होता है । फलतः कांग्रेस की बागडोर महात्मा गांधी के हाथ में आती है । गांधीजी कांग्रेस में अभूतपूर्व परिवर्तन लाते हैं और उसकी पूर्णतया कायापलट कर देते हैं । इसके पूर्व कांग्रेस भारत के कुछ शिक्षित बौद्धिकों की एक संस्था मात्र थी । देश के सामान्य लोगों से उसका कोई सरोकार नहीं था । भारत के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना ने जन्म लिया । पहली बार देश का मस्तिष्क (शिक्षितवर्ग) और देश का हृदय (विराट जनता) एक हुआ । उन्होंने कांग्रेस को एक बड़ा फलक दिया । ऊपर जिनका उल्लेख किया गया है, ऐसी अनेक प्रवृत्तियों का प्रारंभ हुआ । इस प्रकार भारतीय जनजीवन के प्राण-प्रश्नों की प्रतिष्ठा से देश में एक नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ । स्वाधीनता की इस लड़ाई में सत्य और अहिंसा को हथियार बनाया गया । असहयोग और सत्याग्रह के आंदोलनों ने देश के सामाजिक, राजनैतिक वातावरण को ही बदल दिया । सन् 1928 में सरदार वल्लभभाई पटेल ने बारडोली में किसानों को न्याय दिलाने के लिए एक सत्याग्रह का प्रारंभ किया । वल्लभभाई पटेल का यह सत्याग्रह पूर्णतया सफल रहा और उन्हें "सरदार" की उपाधि प्राप्त हुई । उसी वर्ष अंग्रेजों ने भारत के लिए एक कमीशन बिठाया था जिसको "साइमन कमीशन" के नाम से जाना जाता है । कमीशन की नीतियाँ

भारत के हितों के खिलाफ़ थीं , अतः सम्पूर्ण देश में सायमन कमीशन का बहिष्कार किया गया । सन् 1929 में रावी नदी के तट पर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ । इस अधिवेशन के प्रमुख थे युवक-सम्राट पंडित जवाहरलाल नेहरू । इसमें उन्होंने पूर्ण स्वराज्य का नारा देते हुए समाजवादी समाज-रचना का चित्र तत्कालीन नेताओं के सम्मुख रखा था । सन् 1930 में इतिहास-प्रसिद्ध "दांडीकूच" की घटना हुई । इसमें महात्माजी ने "नमक-कानून" का भंग करते हुए ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी । इसके कारण पूरे देश में हलचल मच गई । फलतः अंग्रेजों ने गांधीजी , सुभाषचन्द्र बोस , सरदार वल्लभभाई पटेल , पंडित मोतीलाल नेहरू , पंडित जवाहरलाल नेहरू , अब्बासअली तैयबजी , इमामसाहब , बाबू राजेन्द्रप्रसाद , सरोजिनी नायडू , डा. अंसारी , मौलाना आज़ाद प्रभृति नेताओं को जेलों में ठूंस दिया । [79]

इसके एक वर्ष बाद सन् 1931 में गांधी-इर्विन समझौता हुआ जिसके तहत उन सब नेताओं को छोड़ दिया गया । उसी वर्ष द्वितीय "गोलमेजी परिषद" (Second Round table Conferrence) का आयोजन लंडन में हुआ । उसमें उपस्थित रहने के लिए भारत की ओर से महात्मा गांधी और डा. बाबासाहब आंबेडकर गये । अंग्रेजों की कूटनीति के कारण इस परिषद में गांधीजी को सफलता नहीं मिली और वे वहां से निराश होकर लौटे । भारत आकर उन्होंने पुनः सत्याग्रह का एलान किया । सत्याग्रह की शक्ति को तोड़ने के लिए अंग्रेजों ने प्रजा पर और देशभक्तों पर कई-कई प्रकार के जुल्म ~~किमक~~ किये । आंदोलन को कमजोर करने के लिए अंग्रेजों ने हिन्दू-मुस्लिमों में कौमी मसलों को लेकर दरारें पैदा करने के यत्न किये जिनके फलस्वरूप भारत में अनेक शहरों में जगह-जगह कौमी हुल्लड़ हुए । अन्ततः सन् 1935 में परिस्थितियों से समझौता करते हुए कांग्रेस ने प्रांतीय स्वराज्य के लिए चुनाव लड़ना मंजूर कर लिया । इसके अनुसार सन् 1936 में बम्बई , मद्रास , संयुक्त

प्रांत) (आज का उत्तरप्रदेश), मध्यप्रांत (आज का मध्यप्रदेश), उड़ीसा, सरहद प्रांत (आज का पंजाब) आदि प्रदेशों में कांग्रेसी मंत्रीमंडलों की स्थापना हुई। इस प्रकार प्रांतीय शासन की बागडोर कांग्रेसी नेताओं के हाथ में आयी, परन्तु केन्द्रीय सत्ता तो अंग्रेजों की ही रही।

आलोच्य कालावधि में सामाजिक स्थिति भी अधिकांशतः विशृंखलित रही। बड़े-बड़े नगरों में शनैः शनैः पूंजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी। अंग्रेजों तथा स्थानिक भारतीय उद्योगपतियों के प्रयत्नों से नये-नये कारखाने स्थापित हो रहे थे। इस प्रकार भारत मानो यंत्रयुग में प्रवेश कर रहा था। इसी समय के दौरान प्रसिद्ध उद्योगपति जमशेदजी टाटा का लोहे का कारखाना जमशेदपुर में शुरू हो जाता है। भारत के नक्शे पर नये औद्योगिक नगर का निर्माण होता है। बिजली की खोज के कारण औद्योगिकरण की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। फलतः उद्योगों में क्रांति-सी आ जाती है। नगरों का औद्योगिक महत्त्व बढ़ जाता है। मुगलों के समय का विश्वविख्यात नगर आगरा औद्योगिक नगर न होने के कारण ही पिछड़ जाता है और बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, जमशेदपुर जैसे नगर उद्योगों के कारण महत्वपूर्ण हो जाते हैं। लंदन विश्व का सबसे बड़ा बाजार हो जाता है। इस औद्योगीकरण की प्रक्रिया के कारण नगरीकरण की (Urbanisation) प्रक्रिया भी तेज़ हो जाती है। नगर महानगर और कस्बे नगरों का रूप लेने लगते हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण ही संयुक्त परिवार टूटने लगते हैं, गांव टूटने लगते हैं। महात्मा गांधी गृहउद्योग, कुटिर-उद्योग और ग्रामोद्धार की बातें करते हैं उसकी पृष्ठभूमि में ये सब कारण रहे हैं। औद्योगीकरण के कारण पूंजीवाद विकसित होता है। यह पूंजीवाद (capitalaism) मध्यकालीन सामंतवाद (Fuedalism)

की कमर भी तोड़ देता है । चारों तरफ व्यापार और पैसों का बोलबाला होने लगता है ।

आलोच्य कालावधि पर विचार करते हुए डा. पारुकान्त देसाई ने लिखा है -- " आर्यसमाज का प्रभाव बढ़ रहा था तथापि समाज के प्रत्येक वर्ग में अंधविश्वास, दंभ, अशिक्षा एवं अनेक प्रकार की कुरीतियाँ फैली थीं । अनमेल विवाह तथा दहेज-प्रथा समाज को घुन की तरह खा रही थी । विधवा-विवाह को पूर्णतया मान्यता नहीं मिली थी । बड़े-बड़े मंदिर तथा मठ व्यभिचार तथा पतन के गढ़ बन जाते हैं । पर राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी के उदय ने नारियों की स्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा किया । अबला अब सबला बनकर राष्ट्रीय आंदोलनों में हिस्सा लेने लगी । वह अब पुरुषों की वासना एवं लालसा से परिचालित कठपुतली की भांति न रहकर प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने लगी । इस प्रकार महात्मा गांधी ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र में प्राणों का संचार किया । " 33

केवल राजनीतिक और औद्योगिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से भी पश्चिम का प्रभाव हमारी संस्कृति और सभ्यता पर पड़ा है । बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ते में विश्वविद्यालयों के स्थापना के उपरांत हमारी शिक्षा-नीति में परिवर्तन आता है । इससे नर्मद, दलपतराम, भारतेन्दु, रानडे, महर्षि अरविन्द, विवेकानंद और महात्मा गांधी जैसे अनेक महापुरुष प्रभावित हुए हैं । पश्चिम के कुछ विचारों और अभिगमों को भी इन्होंने आत्मसात किए हैं । समाज को ढोंग-दंभ तथा कुप्रथाओं ने बुरी तरह से नुकसान पहुंचाया था । अनेक सामाजिक दूषण फैले हुए थे । ऐसी स्थिति में नयी शिक्षा तथा पश्चिमी संस्कृति ने टैगोर, महर्षि अरविंद तथा गोवर्धनराम जैसों की आँखें खोल दी थीं । इस सन्दर्भ में गुजराती के लब्धप्रतिष्ठित लेखक-आलोचक डा. प्रवीण दरजी ने जो कहा है वह

उल्लेखनीय है — " दलपतराम ने भी फार्बस जैसे अंग्रेजों के सम्पर्क से शनैः शनैः ही नवसुधार के सुर सुने थे तथा दुराचार एवं दुर्गुणों में फंसी हुई प्रजा को उनसे मुक्त होने का अनुरोध किया था । इस प्रकार प्रारंभिक वर्षों में भारतीय संस्कृति पर शिक्षा, धार्मिकता, सामाजिकता, रीति-रिवाज, क्रियाकांड, अंधश्रद्धा इन सब पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव पड़ा । यह प्रभाव विधायक था । हमने इनमें से बहुत-सी बातों को अंगीकृत किया, आगे बढ़े, नये परिवर्तनों का स्वागत किया । स्वाधीनता-संग्राम के वर्षों में इन सबका एक सकारात्मक परिणाम देख सकते हैं । "[8]

इस प्रकार प्रेमचन्दकालीन युगबोध में हमें अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों की प्राप्ति होती है । कुछ नवीन सामाजिक, धार्मिक आंदोलन अस्तित्व में आते हैं । स्वाधीनता की भावना जोर पकड़ती है । इन सबके कारण उस समय का सामाजिक-राजनीतिक जीवन नानाविध आंदोलन एवं हलचलों से ही क्रियान्वित है ।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुँच सकते हैं :—

{1} प्रेमचन्द युग-निर्माता साहित्यकार हैं । वास्तविक यथार्थवादी आस्थामूलक सामाजिक उपन्यासों का प्रारंभ उन्हीं से ही माना जाता है । प्रेमचन्द अपने आप में एक संस्था थे और उन्होंने अनेक लेखकों को कथा-साहित्य की ओर उन्मुख किया ।

{2} औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न सामाजिक जटिलता के उचित संवाहक के रूप में "नॉवेल" जैसी विधा पश्चिम में अस्तित्व में आयी । भारत में इस विधा का प्रादुर्भाव अंग्रेजी के प्रभावस्वरूप उन्नीसवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ ।

§3§ उपन्यास की तमाम परिभाषाओं का केन्द्रीय स्वर एक ही है कि उपन्यास का यथार्थ से गहरा सरोकार है । यह यथार्थ-धर्मिता ही उपन्यास का प्राण-तत्त्व है । उपन्यास की तमाम विधाओं में, यहाँ तक कि ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यासों में भी, यथार्थ का सविशेष ध्यान रखा जाता है ।

§4§ उपन्यास एक यथार्थधर्मी विधा है, अतएव समाज के साथ उसका सीधा सरोकार है । अतः स्वाभाविक रूप से सामाजिक संस्थाओं का आकलन§3§× उसका मूलभूत हेतु बन जाता है ।

§5§ प्रेमचन्दपूर्व का उपन्यास औपन्यासिक कला की दृष्टि से बोधप्रधान, मनोरंजनप्रधान, स्थूल-कथावस्तुप्रधान, चरित्र-चित्रण की वैज्ञानिक पद्धति से [illegible] रहित तथा अपरिपक्व है । वस्तुतः हिन्दी में उपन्यास को उसकी वास्तविक गरिमा प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुई ।

§6§ प्रेमचन्दयुग में हमें मूलतः दो प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं -- सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात जैनेन्द्र द्वारा हो गया था, परन्तु उसका यथेष्ट विकास परवर्तीकाल में ही हुआ ।

§7§ प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें अपने देश का यथार्थ समग्रता के साथ मिलता है । भारतवासियों के चौमुखी शोषण को सर्वप्रथम उन्होंने रेखांकित किया ।

§8§ प्रेमचन्द में हमें एक क्रमिक विकास मिलता है । वे क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गये हैं । उनकी औपन्यासिक यात्रा आदर्शवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से होते हुए अन्ततः यथार्थवादी आयामों को स्पष्ट करती है । प्रेमचन्द की कला का चरमोत्कर्ष हमें "गोदान" में उपलब्ध होता है ।

§9§ प्रेमचन्दयुग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक", पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", आचार्य चतुरसेन शास्त्री,

जयशंकर प्रसाद, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजेश्वरप्रसाद, धनीराम प्रेम, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, श्रीनाथसिंह, उषादेवी मित्रा, तेजोरानी दीक्षित, शिवरानीदेवी प्रभृति को परिगणित कर सकते हैं। इन उपन्यासकारों ने तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को सूक्ष्मता और गंभीरता से उकेरा है। अतः उस काल के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास को समझने के लिए ये आधारभूत सामग्री बन सकते हैं।

(10) प्रेमचन्दयुग सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक सभी दृष्टियों से हलचलों और आंदोलनों का युग रहा है। स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं का, विशेषतः महात्मा गांधी का इस युग पर विशेष प्रभाव पाया जाता है।

(11) मार्क्सवादी-समाजवादी जीवन-मूल्यों तथा प्रगतिवादी आयामों की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट होने लगता है।

=======XXXXXXX =======

:: सन्दर्भसूचिका ::

{1} द्रष्टव्य : कलम का मजदूर : मदनगोपाल : पृ. 329 ।

{2} लाईफ एण्ड वर्क्स आफ प्रेमचन्द : डा. मनोहर बंद्योपाध्याय : पृ. 24 ।

{3} द्रष्टव्य : प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।

{4} सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 150-151 ।

{5} अमृतराय का निधन सम्भवतः अगस्त 1996 में हुआ ।

{6} कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 175-176 ।

{7} परिधि पर स्त्री : मृणाल पाण्डे : पृ. 103 ।

{8} लेख : "केन्द्र से परिधि की दूरी" : श्री. अरविन्द जैन : हंस — पृ. 96 ।

{9} औरत होने की सजा : श्री. अरविन्द जैन : पृ. 26 ।

{10} टाइम्स आफ इण्डिया : 16 सप्टेम्बर : 1996 ।

{11} "प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व" : डा. हंसराज रहबर : भूमिका से ।

{12} द्रष्टव्य : काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 151 ।

{13} द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्यकोश : भाग-1 : पृ. 153 ।

{14} न्यू इंग्लिश डिक्शनरी :

{15} द नोवेल एण्ड द पिपुल : राल्फ फाक्स : पृ. 20 ।

{16} ए शोर्ट हिस्टरी आफ इंग्लिश लिटरेचर : आइफोर इवान्स :

{17} उद्धृत : डा. पारुकान्त देसाई : समीक्षायण : पृ. 115 ।

{18} सायकोलोजिकल नोवेल : हेनरी जेम्स : पृ. 189 ।

{19} साहित्यालोचन : डा. श्यामसुन्दरदास : पृ. 135 ।

{20} काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 155 ।

{21} कुछ विचार : प्रेमचन्द : पृ. 46 ।

{22} हिन्दी साहित्यकोश : भाग-1 : पृ. 153 ।

{23} हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 29 ।

{24} लेख : साहित्य-संदेश : मार्च-1940 : पृ. 58 ।

{25} आधुनिक साहित्य : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : पृ. 173 ।

{26} "हिन्दी उपन्यास : कुछ उपलब्धियाँ " : डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ. 11 ।

{27} आलोचना : जनवरी-मार्च-1986 : पृ. 28 ।

{28} " हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : डा. कुँवरपालसिंह : पृ. 20 ।

{29} " हिन्दी उपन्यासों की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास " : शोध-प्रबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 18 ।

{30} समीक्षायण : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 115 ।

{31} चारुचन्द्रलेख : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ. 137-142 ।

{32} द्रष्टव्य : आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं. डा. भीष्म साहनी : पृ.

{33} द्रष्टव्य : वही : पृ.

{34} भगवतीशरण मिश्र का उपन्यास साहित्य : शोध-प्रबंध : डा. इला मिस्त्री : पृ. 161-164 ।

{35} द्रष्टव्य : होरी-धनिया : गोदान ; सलमजी – पत्थर -अल-पत्थर , अरू ; काली – धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र ; बबुली – एक टुकड़ा इतिहास : गोपाल उपाध्याय ।

{36} खिड़की के फूल : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. ।

{37} हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प.434 ।

{38} परीक्षागुरु : लाला श्रीनिवासदास : भूमिका से ।

{39} द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. डा. सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ.

{40} वही : पृ.

{41} द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ.

§42§ गायल फैरी : राइटर्स एट वर्क : फर्स्ट सीरिज : पृ. 60 ।

§43§ प्रेमचन्द और गोर्की : सं. शचिरानी गुर्टू : पृ. 68 ।

§44§ " प्रेमचन्द : एक कृति व्यक्तित्व " : जैनेन्द्रकुमार : पृ. 21 ।

§45§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 29 ।

§46§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 12 ।

§47§ द्रष्टव्य : ~~बे~~ वही : पृ. 14 ।

~~§48§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 44~~

§48§ " हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा " : डा. रामदरश मिश्र : पृ. 44 ।

§49§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।

§50§ सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 192 ।

§51§ वही : पृ. 177 ।

§52§ "प्रेमचन्द : आज के सन्दर्भ में " : डा. गंगाप्रसाद विमल : पृ. 114 ।

§53§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 68 ।

§54§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 19 ।

§55§ रंगभूमि : प्रेमचन्द : पृ. 558 ।

§56§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : पृ. 68 ।

§57§ वही : पृ. 69 ।

§58§ " हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा " : डा. रामदरश मिश्र : पृ. 55

§59§ वही : पृ. 51 ।

§60§ वही : पृ. 53 ।

§61§ लाइफ एण्ड वर्क्स आफ प्रेमचन्द : डा. मनोहर बंद्योपाध्याय : पृ. 114 ।

§62§ " हिन्दी उपन्यास : कुछ उपलब्धियाँ " : डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ. 9-10 ।

§63§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 69-70 ।

§64§ आज का हिन्दी उपन्यास : डा. इन्द्रनाथ मदान : पृ. 9-10 ।

§65§ गोदान : प्रेमचन्द : पृ. 253 ।

§66§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 652 ।

§67§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 21 ।

§68§ " वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा " : डा. सियारामशरण प्रसाद : पृ. 224 ।

§69§ काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 182-183 ।

§70§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास " : डा. सुरेश सिनहा : पृ. 193 ।

§71§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 91 ।

§72§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 486 ।

§73§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. डा. सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ. 158 ।

§74§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 69 ।

§75§ " वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा " : पृ. 224 ।

§76§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 34 ।

§77§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 102 ।

§78§ वही : पृ. 106 ।

§79§ द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 3 ।

§80§ वही : पृ. 4 ।

§81§ लेख : § करीब हिन्दुस्तानी मित्रो ? " द्वारा डा. प्रदीप दरजी : संदेश : दिनांक- 27-12-98 ।